

# गायत्री के पंचरूप



● श्रीराम शर्मा आचार्य

# गायत्री पंचरत्न

आद्य शक्ति गायत्री के गुणगान एवं तत्वदर्शन से भारतीय आर्य-ग्रन्थ भरे पढ़े हैं। भावनात्मक, भक्तिपरक, दार्शनिक, विचारपरक एवं व्यावहारिक क्रियापरक सभी तरह के शास्त्रों में इस मूलधारा का उल्लेख, विवेचन, स्तवन अपने-अपने ढंग से किया गया है। उनसे इस महाशक्ति का स्वरूप एवं महत्व प्रकट होता है और उसका लाभ उठाने की दृष्टि प्राप्त होती है। शास्त्रों के समूद्र में से यहाँ अतीव उपयोगी पाँच प्रसंग बहुमूल्य पंचरत्नों के रूप में इस पुस्तक में जिज्ञासुओं के लिए दिये गये हैं। वे हैं—( १ ) गायत्री पञ्जर ( २ ) गायत्री गीता, ( ३ ) गायत्री स्मृति, ( ४ ) गायत्री संहिता तथा ( ५ ) गायत्री स्तोत्र। इन पाँचों के मुख्य विषय इस प्रकार हैं—

( १ ) गायत्री पञ्जर—इसमें महाशक्ति गायत्री के विराट् स्वरूप का वर्णन है। अनादि, अनन्त, अविनाशी परमात्मा को विभिन्न अवतारों एवं देव स्वरूपों से पहचाना जाता है, किन्तु वह उसी रूप तक सीमित नहीं बन जाता है। उसके सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ स्वरूप का बोध उसके विराट् दर्शन से ही होता है। साधक को जब प्रभु—कृपा से दिव्य चम्पा प्राप्त होते हैं तो उसे इष्ट के विराट् स्वरूप का बोध होता है। इस विराट् दर्शन से मनुष्य पापों से सहज ही दूर हो जाता है और अनन्त शक्ति तथा अनन्त आनन्द से अपने आपको जुड़ा हुआ अनुभव करता है।

आद्य शक्ति गायत्री के प्रति शरीरधारी मौं जैसा ममत्व होना भी अच्छी बात है, किन्तु उसके सर्वव्यापी स्वरूप का भान रहना भी आवश्यक है। पंजर का अर्थ होता है—ठौँचा। वेदमाता गायत्री का ठौँचा सम्पूर्ण विश्व है, ऐसा इस स्तोत्र में वर्णन किया गया है। इस तथ्य को हृदयंगम करने वाला साधक सर्वत्र ही मौं की सत्ता देखता है। वह सदैव अपने आपको मौं की गोद में बैठा अनुभव करता है। इस स्थिति में आत्महीनता, भय, संकीर्णता, पापवृत्ति सभी निकृष्टताओं के प्रभाव से बच जाता है। साथ ही कृतज्ञता, स्नेह, सदृश्वाव, उल्लास आदि से उसका रोम—रोम पुलकित होता रहता है। अन्य मनुष्यों एवं प्राणिमात्र के प्रति द्वेष—दुर्भाव समाप्त होकर अखण्ड आत्मीयता के भाव का विकास होने लगता है।

( २ ) गायत्री गीता—‘गीता’ सम्बोधन किसी विषय के मर्म की व्याख्या के संदर्भ में प्रयुक्त होने लगा है। गायत्री का सदैश आध्यात्मिक एवं सांसारिक दोनों दृष्टियों से अत्यधिक अर्थपूर्ण एवं उपयोगी है। गायत्री

गीता में प्रणव 'उँ' व्याहृतियों-भूर्भुवः स्वः सहित गायत्री मन्त्र के नी शब्दों में सन्निहित मर्म को प्रकट करने का प्रयास किया गया है। यह ज्ञान इतना परिमार्जित एवं महत्वपूर्ण है कि यदि मनुष्य इसे भली प्रकार समझ ले और जीवन-व्यवहार में उतार ले तो लोक-परलोक दोनों में सुख-शान्ति का लाभ पा सकता है।

( ३ ) गायत्री स्मृति-इसके अन्तर्गत गायत्री साधकों के लिए गायत्री के सदैश-निर्देशों का उल्लेख है। गायत्री मन्त्र के २४ अङ्कों में से प्रत्येक अङ्क एक विशेष निर्देश, विशेष शिक्षा देता है। वह विस्मरण में उपेक्षा के गर्त में न ढाल दिया जाय, स्मृति में सदैव बना रहे तभी कल्याण पथ पर प्रगति सम्भव है। गायत्री स्मृति में साधकों के लिए उन्हों महत्वपूर्ण सूत्रों को स्पष्ट किया गया है।

( ४ ) गायत्री संहिता-संहिता में विषय विशेष से सम्बन्धित सिद्धान्तों, मर्यादाओं एवं नियमों का समावेश होता है। गायत्री संहिता में आद्यशक्ति के प्रभाव का वर्णन करते हुए गायत्री साधना को सफल एवं अधिक प्रभावशाली बनाने के सूत्रों का उल्लेख किया गया है। तत्सम्बन्धी अनेक प्रान्तियों का निवारण भी किया गया है। इसे पढ़-समझकर साधक मोह-बुद्धि से मुक्त होकर साधना-पथ पर आसूढ़ होने में सहाय हो जाते हैं।

( ५ ) गायत्री स्तोत्र-यह मौं की भाव भरी वन्दना है। मौं गायत्री के व्यापक स्वरूप और उनके अनन्त वैभव का स्मरण करते हुए उनके चरणों में पुनः-पुनः नमन किया गया है। इस वन्दना के आठ पद हैं। इसलिए इसे गायत्री अष्टक भी कहते हैं।

यह सभी स्तोत्र नियमित पाठ करने योग्य हैं। पाठ दो दृष्टियों से किया जाता है। एक माता के सही स्वरूप एवं उससे सम्बन्धित तत्त्वदर्शन को हृदयंगम करने के लिए, दूसरे मौं के प्रति अपनी श्रद्धा, आस्था व्यक्त करने तथा उसे अधिक पुष्ट बनाने और उनकी कृपा एवं पुण्य प्राप्त करने के लिए। दोनों ही दृष्टियों से इन पंचरत्नों का पाठ परम लाभप्रद सिद्ध होता है।

*// अथ गायत्री पञ्जरम् //*

**भूर्भुवः स्वः खल्वित्येतैर्निंगमत्वप्रकाशिकाम् ।**

**महर्जनस्तपः सत्यं लोकोपरिसुसंस्थिताम् ॥१॥**

श्रुः श्रुवः स्वः द्वारा निगम का प्रकाश करती है, महः जनः, तपः, सत्यं, इन लोकों से ऊपर स्थित है।

गानादिना विनोदादि कथालापेषु तत्पराम् ।

तदित्यवास्तमनोगम्य तेजो रूपधरां पराम् ॥२॥

गन आदि से युक्त विनोद और कथा आदि में तत्पर वह, वाणी और मन से अगम्य होने पर भी तेज रूप धारण किये हुए हैं ।

जगतः प्रसवित्रीं तां सवितुः सृष्टिकारिणीम् ।

वरेण्यमित्यन्नमयीं पुरुषार्थफलप्रदाम् ॥३॥

जगत् का सृजन करने वाली उसको सविता की सृष्टिकर्त्री कहा गया है । वह वरेण्य अर्थात् अन्नमयी है और पुरुषार्थ का फल देती है ।

अविद्या वर्ण वर्ण्या च तेजोवदुग्भर्त्संजिताम् ।

देवस्य सच्चिदानन्द परब्रह्म रसात्मकाम् ॥४॥

वह ( माया रूप ) अविद्या है, वर्ण ( शब्दों ) द्वारा वर्णनीय है, तेजयुक्त है, गर्भ संज्ञावाली है तथा सच्चिदानन्द परब्रह्म देव की रसमयी है ।

यद्यत्यं धीमहि सा वै ब्रह्माद्वैतस्वरूपिणीम् ।

धियो योनस्तु सविता प्रचोदयादुपासिताम् ॥५॥

हम ध्यान करते हैं कि वह अद्वैत ब्रह्म स्वरूपिणी है, सविता स्वरूपा हमारी बुद्धि को उपासना के लिये प्रेरणा देती है ।

तादुगस्या विराट् रूपां किरीटवरराजिताम् ।

व्योमकेशालकाकाशा रहस्यं प्रवदाम्यहम् ॥६॥

इस प्रकार वह विराट् रूप वाली है, वह सुन्दर किरीट धारण करती है । व्योम केश है, आकाश अलंकैं हैं, इस प्रकार इसका रहस्य कहा जाता है ।

मेघ भ्रकटिकाक्रान्तां विधिविष्णुशिवार्चिताम् ।

गुह भागेवकर्णा तां सोमसूर्याग्निलोचनाम् ॥७॥

भीहों से आक्रान्त मेघ हैं, ब्रह्मा, विष्णु और शिव से जो अर्चित है, गुरु, शुक्र जिसके कान हैं, सोम, सूर्य अग्नि जिसके नेत्र हैं ।

पिंगलेडाद्ययं नुनं वायुनासापुटान्विताम् ।

सन्ध्यौभयोष्ठपुटितां लसद्वागुपजिह्वकाम् ॥८॥

इडा, पिंगला दोनों नासापुट हैं । दोनों सन्ध्या, दोनों ओष्ठ हैं, उपजिह्वा ही वाणी है ।

सन्ध्याद्युमणिकण्ठा च लसद्वाहसमन्विताम् ।

पर्जन्य हृदयासक्तं वसुसुस्तनमण्डलाम् ॥९॥

गायत्री के पंच-रत्न )

उस सन्धा रूपी द्युमणि से कण्ठ शोभित है । वाहु शोभायुक्त है तथा पर्जन्य हृदय है और स्तनमण्डल वसु है ।

**वितताकाशमुदरं सुनाभ्यन्तरदेशकाम् ।**

**प्रजापत्याख्यजघनां कटीन्द्राणीतिसंज्ञिकाम् ॥१०॥**

आकाश उदर है, अन्तरदेश नाभि है । जघन प्रजापति है, कटि इन्द्राणी है ।

**ऊरु मलयमेरुभ्यां सन्ति यत्रासुरद्विषः ।**

**जानुनीं जहनु कुशिकौ वैश्वदेवसदाभुजाम् ॥११॥**

ऊरु मलय मेरु हैं, जहाँ असुर द्वेषी देव निवास करते हैं । जानु में जहनु कुशिक हैं, भुजाये वैश्वदेव हैं ।

**अयनद्वयं जंघाद्यं खुरादि पितृसंज्ञिकाम् ।**

**पादांधिनखरोमादि भूतलद्वुमलांछिताम् ॥१२॥**

जंघाओं के दोनों आदि स्थान अयन हैं, खुर आदि पितृ हैं, पद, अंधि, नख, रोम आदि, पृथ्वी तल के पेढ़ आदि कहे हैं ।

**ग्रहराशिदेवर्षयो मूर्तिं च परसंज्ञिकाम् ।**

**तिथिमासर्तुर्वर्षाख्यं सुकेतुनिमिषात्मिकाम् ॥**

**माया कल्पित वैचित्र्यां सन्ध्याच्छादनं संवृताम् ॥१३॥**

ग्रह, राशि, देव, ऋषि, परसंज्ञक शक्ति की मूर्तियाँ हैं । तिथि, मास, ऋतु, वर्ष तथा सुकेतु आदि निमेष हैं । माया से रचित विचित्रता वाली तथा सन्धा के आवरण से युक्त है ।

**ज्वलत्कालानलप्रभां तडित्कोटिसमप्रभाम् ।**

**कोटिसूर्यप्रतीकाशां चन्द्रकोटिसुशीतलाम् ॥१४॥**

कालाग्नि की तरह ज्वलन युक्त है, करोड़ों बिजलियों के समान प्रभायुक्त है, करोड़ों सूर्य की तरह प्रकाशवान् और करोड़ों चन्द्रमा के समान शीतल है ।

**सुधामण्डलमध्यस्थां सान्द्रानन्दाऽमृतात्मिकाम् ।**

**प्रागतीतां मनोरप्यां वरदां वेदमातरम् ॥१५॥**

सुधा मण्डल के मध्य में आनन्द और अमृतयुक्त है, प्राकृ है, अतीत है, मनोहर है, वरदा है और वेदमाता है ।

**षडंगा वर्णिता सा च तैरेव व्यापकत्रयम् ।**

**पूर्वोक्त देवतां ध्यायेत्साकारगुणसंयुताम् ॥१६॥**

इसके छः अंग हैं, यह तीनों भुवनों में व्याप्त है। इन पूर्वोक्त गुणों से संयुक्त देवता का ध्यान करना चाहिये।

पञ्चवक्त्रां दशभुजां त्रिपञ्चनयनैर्युताम् ।

मुक्ताविद्वुमसौर्णा स्वच्छश्श्वरसमाननाम् ॥१७॥

पैंच मुँह हैं, दश भुजा हैं, पन्द्रह नेत्र हैं और मुक्ता, विद्वुम के तुल्य सुर्वा, सफेद तथा शुभ्र आनन हैं।

आदित्य मार्गगमनां स्मरेद् ब्रह्मस्वरूपिणीम् ।

विचित्रमन्त्रजननीं स्मरेद्विद्यां सरस्वतीम् ॥१८॥

वह सूर्य मार्ग से गमन करती है, उस ब्रह्म स्वरूपिणी का स्मरण करना चाहिये। उन विचित्र मन्त्रों की जननी विद्या सरस्वती का स्मरण करना चाहिये।

## गायत्री गीता

ओमित्येव सुनामधेयमनघं विश्वात्मनो ब्रह्मणः,  
सर्वेष्वेव हि तस्य नामसु वसोरेतत्प्रधानं मतम् ।  
यं वेदा निगदन्ति न्याय निरतं श्रीसच्चिदानन्दकम्,  
लोकेशं समदर्शिनं नियमनं चाकारहीनं प्रभुम् ॥१॥

अर्थ-जिसको वेद न्यायकारी, सच्चिदानन्द, सर्वेष्वर, समदर्शी, नियमक, प्रभु और निराकार कहते हैं, जो विश्व में आत्मा स्त्रा से उस ब्रह्म के समस्त नार्मों में श्रेष्ठ नाम, पाप-रहित, पवित्र और ध्यान करने योग्य है—वह “उं” ही मुख्य नाम माना गया है।

भावार्थ-“परमात्मा को प्राप्त करने और प्रसन्न करने का मार्ग उसके नियमों पर चलना है। वह निन्दा-स्तुति से प्रभावित नहीं होता, वरन् कर्मों के अनुसार फल देता है। परमात्मा को सर्वत्र व्यापक समझकर गुप्त सूप से भी पाप न करना चाहिये। प्राणियों की सेवा करना परमात्मा की ही पूजा करना है। परमात्मा को अपने अन्तर में अनुभव करने से आत्मा पवित्र होती है और सत्, चैतन्यता तथा आनन्द की अनुभूति होती है।

भूरै प्राण इति ब्रुवन्ति मुनयो वेदान्तपारं गताः;

प्राणः सर्व विचेतनेषु प्रसृतः सामान्य रूपेण च ।

एतेनैव विसिद्ध्यते हि सकलं नूनं समानं जगत्,

द्रष्टव्यः सकलेषु जन्तुषु जनैर्नित्यं ह्यसुश्चात्मवत् ॥२॥

अर्थ-मुनि लोग प्राण को ‘भूः’ कहते हैं। यह प्राण समस्त गायत्री के पंच-रत्न ( ५ )

प्राणियों में सामान्य रूप से फैला हुआ है। इससे सिद्ध है कि यहाँ सब समान हैं। अतएव सब मनुष्य और प्राणियों को अपने समान ही देखना चाहिए।

भावार्थ—अपने समान सबको कष्ट होता है, इसलिये किसी को सताना न चाहिये। दूसरों से वही व्यवहार करना चाहिये, जो हम दूसरों से अपने लिये चाहते हैं, सबमें समत्व की दृष्टि रखनी चाहिये। कुल, वंश, वेष, जाति, समुदाय, स्त्री, पुरुष आदि भेदों के कारण किसी को नीच-ऊँच, छोटा-बड़ा नहीं समझना चाहिये। उच्चता और नीचता का कारण तो भले-बुरे कर्म ही हो सकते हैं।

भुवो नाशो लोके सकल विपदां च निगदितः,

कृतं कार्यं कर्त्तव्यमिति मनसा चास्य करणम् ।

फलाशां मर्त्या ये विदधति न वै कर्मनिरताः,

लभन्ते नित्यं ते जगति हि प्रसादं सुमनसाम् ॥३॥

अर्थ—संसार में समस्त दुःखों का नाश ही ‘भुवः’ कहलाता है। कर्त्तव्य—भावना से किया गया कार्य ही कर्म कहलाता है। परिणाम में सुख की अभिलाषा को छोड़ कर जो कार्य करते हैं, वे मनुष्य सदा प्रसन्न रहते हैं।

भावार्थ—मनुष्य का अधिकार कार्य करना है, फल देने वाला ईश्वर है। अमुक वस्तु प्राप्त होने पर ही सुख माना जाय, ऐसा सोचने की बजाय ऐसा सोचना चाहिये कि कर्त्तव्य-पालन ही हमारे लिये आनंद का सर्वोत्तम केन्द्र है। जो अपने कर्त्तव्य कर्म को ही लक्ष्य मान लेता है, वह कर्मयोगी हर घड़ी सुखी रहता है। जो इच्छित फल की आशा के लिये लटका रहता है, उस तृष्णावान् को सदा सत्कर्म करते रहना चाहिये, गीता के कर्मयोग का यही तत्व है।

स्वरेषो वै शब्दो निगदति मनः स्थैर्य-करणम्,  
तथा सौख्यं स्वास्थ्यं ह्युपदिशति चित्तस्य लोलताम् ।

निमग्नत्वं सत्यव्रतसरसि चाचक्षति उत,

त्रिधा शान्तिं होतां भुवि च लभते संयमरतः ॥४॥

अर्थ—‘स्वः’ यह शब्द मन की स्थिरता का निर्देश करता है। चञ्चल मन को सुस्थिर और स्वस्थ रखो, यह उपदेश देता है। सत्य में निमग्न रहो, यह कहता है। इस उपाय से संयमी पुरुष तीनों प्रकार की शान्ति को प्राप्त करते हैं।

**भावार्थ-**अनिश्चित परिस्थिति प्राप्त होने पर प्रायः मनुष्य शोक, दुःख, क्रोध, द्वेष, दीनता, निराशा, चिन्ता, भय, बैचैनी आदि से उद्धिन्ह होकर अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर अहंकार, मद, उद्दण्डता, खुशी में फूलकर अस्वाभाविक आचरण करना, इतराना, अपव्यय, शेखी आदि से ग्रस्त हो जाते हैं। ये दोनों ही स्थितियाँ एक प्रकार के नशे या ज्वर हैं। ये विवेक को अन्धा कर देते हैं जिससे विचार और कार्यों की उचित श्रृंखला नष्ट-प्रष्ट हो जाती है और आदमी अन्धा तथा बावला बन जाता है। इन सत्यानाशी त्रूफानों से आत्मा की रक्षा करने के लिये मन को स्थिर, सन्तुलित, स्वस्थ एवं सत्यप्रेमी बनाना चाहिये, तभी मनुष्य को आत्मिक, बौद्धिक तथा शारीरिक शान्ति मिल सकती है।

ततो वै निष्पत्तिः स भुवि मतिमान् पणितवरः,  
विजानन् गुह्यं यो मरणजीवनायोस्तद्विलम्भु ।

अनन्ते संसारे विचरति भयासक्तिरहितं,  
स्तथा निर्माणं वै निजगतिविधीनां प्रकुरुते ॥५॥

अर्थ—‘तत्’ शब्द यह बतलाता है कि इस संसार में वही बुद्धिमान है, जो जीवन-मरण के रहस्य को जानता है। भय और आसक्ति रहित जीवन जीता है और अपनी गतिविधियों का निर्माण करता है।

**भावार्थ-**मृत्यु सदा सिर पर नाचती खड़ी रहती है। इस समय सौंस चल रही है, अगले ही छण बन्द हो जाय, इसका क्या ठिकाना है? यह सोचकर इस सुर-दुर्लभ मानव-जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग करना चाहिये और थोड़े जीवन में ज्ञानिक सुख के लिये पाप क्यों किये जावें जिससे चिरकाल तक दुःख भोगने पड़ें, ऐसा विचार करना चाहिये।

यदि विद्याध्ययन, समाज-सुधार, धर्म-प्रचार आदि श्रेष्ठ कार्य करने हों तो ऐसा सोचना चाहिये कि जीवन अखण्ड है। यदि इस शरीर से वह कार्य पूरा न हो सका तो अगले में पूरा करेंगे। यह निर्विवाद है कि जो इस जीवन का सदुपयोग कर रहा है, उसे मृत्यु के पश्चात् आनन्द ही मिलेगा। परलोक, पुनर्जन्म आदि में सुख ही प्राप्त होगा, पर जो इन जीवन-क्षणों का दुरुपयोग कर रहा है, उसका अविष्य अन्धकारमय है। इसलिये जो बीत चुका है, उसके लिये दुःख न करते हुए शेष जीवन का सदुपयोग करना चाहिये।

सवितुस्तु पदं वितनोति ध्रुवं,  
मनुजो बलवान् सवितेव भवेत् ।  
विषया अनुभूति परिस्थितियो

वै सदात्मन एव गणेदिति सः ॥६

अर्थ—‘सवितुः’ यह पद बतलाता है कि मनुष्य सूर्य के समान बलवान् होना चाहिये और सभी विषय तथा अनुभूतियाँ अपनी आत्मा से ही सम्बन्धित हैं, ऐसा विचारना चाहिये ।

भावार्थ—सूर्य को वीर्य और पृथ्वी को रज कहा जाता है । सूर्य की शक्ति से संसार की सब क्रियायें होती हैं । इसी प्रकार आत्मा अपनी क्रियाशीलता द्वारा विविध प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है । प्रारब्ध, भाग्य, दैव आदि भी अपने प्राचीन कर्मों का ही परिपाक मात्र हैं । इसलिये अपने लिये जैसी परिस्थिति अच्छी लगती है, उसी के योग्य अपने को बनाना चाहिये । अपना भाग्य-निर्माण करना हर मनुष्य के अपने हाथ में है । इसलिये आत्म-निर्माण की ओर ही सबसे अधिक ध्यान देना चाहिये । बाहर की सहायता भी अपनी अन्तरंग स्थिति के अनुकूल ही मिलती है ।

मनुष्य को तेजस्वी, बलवान्, पुरुषार्थी बनाना चाहिये । ‘स्वास्थ्य, विद्या, धन, चतुरता, संगठन, यश, साहस और सत्य इन आठ बलों से अपने को सदैव बलवान् बनाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

वरेण्यञ्चैतद्दै प्रकटयति श्रेष्ठत्वमनिशम्,  
सदा पश्येच्छ्रेष्ठं मननमपि श्रेष्ठस्य विदधेत् ।  
तथा लोके श्रेष्ठं सरलमनसा कर्म च भजेत्,  
तदित्थं श्रेष्ठत्वं व्रजति मनुजः शोभितगुणैः ॥७॥

अर्थ—‘वरेण्य’ यह शब्द प्रकट करता है कि प्रत्येक मनुष्य को नित्य श्रेष्ठता की ओर बढ़ना चाहिये । श्रेष्ठ देखना, श्रेष्ठ चिन्तन करना, श्रेष्ठ विचारना, श्रेष्ठ कार्य करना इस प्रकार से मनुष्य श्रेष्ठता को प्राप्त होता है ।

भावार्थ—मनुष्य वैसा ही बनता है, जैसे उसके विचार होते हैं । विचार सौंचा है और जीवन गीली मिट्टी । जैसे विचारों में हम ढूबे रहते हैं, हमारा जीवन उसी ढौंचे में ढलता जाता है, वैसे ही आचरण होने लगते हैं, वैसे ही साधी मिलते हैं, उसी दिशा में जानकारी रुचि तथा प्रेरणा मिलती है । इसलिये यदि अपने को श्रेष्ठ बनाना है तो सदा श्रेष्ठ

मनुष्यों के सम्पर्क में रहना, श्रेष्ठ पुस्तकें पढ़ना, श्रेष्ठ बातें सोचना, श्रेष्ठ घटनायें देखना, श्रेष्ठ कार्य करना आवश्यक है । दूसरों में जो श्रेष्ठतायें हों उनकी कदर करना और उन्हें अपनाना, श्रेष्ठता में श्रद्धा रखना ये सब बातें उन लोगों के लिये बहुत आवश्यक हैं, जो अपने को श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं ।

भर्गो व्याहरति पदं हि नितरां लोकः सुलोको भवेत्,  
पापे पाप-विनाशने त्वविरतं, दत्तवधानो वसेत् ।

दृष्ट्वा दुष्कृतिदुर्विपाक-निचयं तेभ्यो जुगुप्सेद्धि च,  
तन्नाशाय विधीयतां च सततं, संघर्षमेभिश्च सह ॥८॥

अर्थ—‘भर्गो’ यह पद बताता है कि मनुष्य को निष्पाप बनना चाहिये । पापों से सावधान रहना चाहिये । पापों के दुष्परिणामों को देखकर उनसे घृणा करे और निरन्तर उनको नष्ट करने के लिये संघर्ष करता रहे ।

भावार्थ—संसार में जितने दुःख हैं, पापों के कारण हैं । अस्पतालों में, जेलखानों में तथा अन्यत्र नाना प्रकार के कष्टों से पीड़ित मनुष्य अब के या पुराने पापों से ही दुःख भोगते हैं । नरक में भी पापी ही त्रास पाते हैं । सन्त और परोपकारी पुरुष दूसरों के पापों का बोझ अपने सिर पर लेकर दुःख उठाते हैं और उन्हें शुद्ध करते हैं । चाहे दूसरों का दुःख कोई सन्त सहे, चाहे पापी स्वयं सहे, हर हालत में दुःखों का कारण पाप ही है । इसलिये जिन्हें दुःख का भय है और सुख की इच्छा है, उन्हें चाहिये कि पापों से बचें और भूतकाल के पापों के लिये प्रायश्चित्त करें । पापों से सावधानी रखना और उन्हें भीतर-बाहर से नष्ट करने के लिये संघर्ष करना—यह बहुत बड़ा पुण्य-कार्य है, क्योंकि इससे अगणित प्राणी दुःखों से छुटकारा पाकर सुखी बनते हैं । निष्पापता में ही सच्चे आनन्द का निवास है ।

देवस्येति तु व्याकरोत्यमरतां मर्त्योऽपि संप्राप्यते,  
देवानामिव शुद्धदृष्टि करणात् सेवोपचाराद् भुवि ।

निःस्वार्थं परमार्थकर्मकरणात् दीनाय दानात्तथा,  
बाह्याभ्यन्तरमस्य देवभुवनं संयुज्यते चैव हि ॥९॥

अर्थ—‘देवस्य’ यह पद बतलाता है कि मरणार्थी मनुष्य भी अमरता अर्थात् देवत्व को प्राप्त कर सकता है । देवताओं के समान शुद्ध दृष्टि रखने से, प्राणियों की सेवा करने से, परमार्थ कर्म करने से, निर्बलों की

सहायता करने से मनुष्य के भीतर और बाहर देवलोक की सृष्टि होती है।

भावार्थ—परमात्मा की बनाई हुई इस पवित्र सृष्टि में जो कुछ है, पवित्र और आनन्दमय ही है। इस सृष्टि को, संसार को प्रसन्नता की दृष्टि से देखना, उसमें मनुष्यों द्वारा उत्पन्न की गयी बुराइयों को दूर करना और ईश्वरीय श्रेष्ठताओं को विकसित करना, प्रचलित करना देवकर्म हैं। इस देव-दृष्टि को धारण करने से मनुष्य देवता बन सकता है। जो अपने को शरीर न समझ कर आत्मा अनुभव करता है, वह अपर है। उसके पास से मृत्यु का अय दूर हो जाता है। प्राणियों को प्रेम और आत्मीयता की पवित्र दृष्टि से देखना, अपने आचरणों को पवित्र रखना, अपने से निर्बलों को ऊँचा उठाने के लिये अपनी शक्ति का दान करना यह देवत्व है। इन गुण वालों के लिये यह भूलोक भी देवलोक के समान आनन्दमय बन जाता है।

**धीमहि भवेम सर्वविद्यं शुचिं,  
शक्तिचयं वयमित्युपदिष्टाः खलु ।**

**नो मनुजो लभते सुखशान्तिः-**

**मनेन विनेति वदन्ति हि वेदाः ॥१०॥**

अर्थ—‘धीमहि’ का आशय है कि हम सब लोग हृदय में सब प्रकार की पवित्र शक्तियों को धारण करें। वेद कहते हैं कि इसके बिना मनुष्य, सुख-शान्ति को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—संसार में भौतिक शक्तियों अनेक हैं। घन, पद, वैभव, राज्य, शरीर-बल, संगठन, शस्त्र, विद्या, बुद्धि, चतुरता, कोई विशेष योग्यता आदि के बल पर लोग ऐश्वर्य और प्रशंसा प्राप्त कर लेते हैं, पर यह अस्थायी होती है। इनसे सुख मिल सकता है, पर वह छोटे-मोटे आघात में ही नष्ट भी हो सकता है। स्थायी सुख आध्यात्मिक पवित्र गुणों में है, जिन्हें ‘दैवी सम्पदायें’ या ‘दिव्य शक्तियों’ भी कहते हैं। निर्भयता, विवेक, स्थिरता, उदारता, संयम, परमार्थ, स्वाध्याय, तपश्चर्या, दया, सत्य, अहिंसा, नम्रता, धैर्य, अद्वैत, प्रेम, न्यायशीलता, निरालस्य आदि दैवी गुणों के कारण जो सुख मिलता है उसकी तुलना किसी भी भौतिक सम्पदा से नहीं हो सकती। इसलिये अपनी दैवी सम्पदाओं का कोष बढ़ाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

**धियो मत्योन्मथ्यागमनिगममन्त्रान् सुमतिमान्,  
विजानीयात्तत्वं विमल नवनीतं परमिव ।**

यतोऽस्मिन् लोके वं संशयगत विचार-स्थलशते,  
मतिः शुद्धैवाञ्छा प्रकटयति सत्यं सुमनसे ॥११॥

अर्थ-'धियो' पद बतलाता है कि बुद्धिमान् को चाहिये कि वह वेद-शास्त्रों को बुद्धि से मथ कर मक्खन के समान उत्कृष्ट तत्त्व को जाने, क्योंकि शुद्ध बुद्धि से ही सत्य को जाना जाता है ।

भावार्थ-संसार में अनेक विचारधारायें हैं, उनमें से अनेकों आपस में टकराती भी हैं । एक शास्त्र के सिद्धान्त दूसरे शास्त्र के विपरीत भी बैठते हैं । इसी कारण एक विद्वान् या ऋषि के विचार दूसरे विद्वान् या ऋषि के विचारों से पूर्णतया मेल नहीं खाते । ऐसी स्थिति में विचलित न होना चाहिये । देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुसार जो बात एक समय बिल्कुल ठीक होती है, वही भिन्न परिस्थितियों में गलत भी हो सकती है । जाड़े के दिनों में जो कपड़े लाभदायक होते हैं, उनसे गर्मी में काम नहीं चलाया जा सकता । इसी प्रकार एक परिस्थिति में जो बात उचित है, वह दूसरी परिस्थिति में अनुचित हो जाती है । इसलिये किसी ऋषि, विद्वान्, नेता व शास्त्र की निन्दा न करते हुए हमें उसमें से वही तत्त्व लेने चाहिये, जो आज की स्थिति के अनुकूल हैं । इस उचित-अनुचित का निर्णय तर्क, विवेक और न्याय के आधार पर वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए करना चाहिये ।

यो नो वास्ति तु शक्तिसाधनचयो न्यूनाधिकश्चाथवा,  
भागं न्यूनतमं हि तस्य विद्यधेमात्मप्रसादाय च ।  
यत्पश्चादवशिष्टभागमस्तिलं त्यक्त्वा फलाशां हृदि,  
तदधीनेष्वभिलाषवस्तु वितर ये शक्तिहीनाः स्वयम् ॥१२॥

अर्थ-'यो नः' पद का तात्पर्य है कि हमारी जो भी शक्तियाँ एवं साधन हैं, चाहे वे न्यून हों अथवा अधिक हों, उनके न्यून से न्यून भाग को ही अपनी आवश्यकता के लिये प्रयोग में लावें और शेष को निःस्वार्थ भाव से अशक्त व्यक्तियों को बौट दें ।

भावार्थ-भगवान् ने मनुष्य को ज्ञान, बल तथा वैभव एक अमानत के स्तर में इसलिये दिये हैं कि इन विभूतियों से सुसज्जित होकर अपने को मान, यश, सुख तथा पुण्य का श्रेय प्राप्त करें । परन्तु इनका लाभ अधिक से अधिक मात्रा में दूसरों को उठाने दें । अपने ऐश आराम, शोग, संचय या अहंकार की पूर्ति में इनका उपयोग नहीं होना चाहिये । वरन् लोकहित

के लिये, अपने से निर्बल की सहायता के लिये इनका उपयोग किया जाना चाहिये । विद्वान्, बलवान् या धनवान् का गौरव इसी बात में है कि उनके द्वारा कम ज्ञान वालों को, निर्धनों को ऊँचा उठाने का प्रयास किया जाय । जैसे वृक्ष, कूप, तड़ाग, उपवन, पुष्प, अग्नि, जल, वायु, बिजली आदि श्रेष्ठ समझे जाने वाले पदार्थ अपनी महान् शक्तियों को लोक-हित के लिये सदैव वितरित करते रहते हैं वैसे ही हमें भी अपनी शक्तियों का जीवन-निर्वाह मात्र अपने लिये रख कर शेष को जगहित के लिये समर्पित कर देना चाहिये ।

प्रचोदयात् स्वयं त्वितरांश्च मानवान्,  
नरः प्रयाणाय च सत्यवत्मीनि ।  
कृतं हि कर्माखिलमित्थमणिना,  
वदन्ति धर्म इति हि विपश्चितः ॥१३॥

अर्थ—‘प्रचोदयात्’ सद का अर्थ है कि मनुष्य अपने आपको तथा दूसरों को सत्य मार्ग पर चलने के लिये प्रेरणा दे । इस प्रकार किये हुए सब कामों को विद्वान् लोग धर्म कहते हैं ।

आवार्य-प्रेरणा संसार की सबसे बड़ी शक्ति है । इसके बिना सारी साधन सामग्री बैकार हैं, चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो । प्रेरणा से उत्साहित और प्रवृत्त हुआ मनुष्य यदि कार्य आरम्भ कर देता है, तो साधन अपने आप जुटा लेता है । उसे ईश्वरीय सहायतायें मिलती हैं और अनेक सहयोगी प्राप्त हो जाते हैं । इसलिये अपने आपको सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देना चाहिये तथा दूसरों को श्रेष्ठता की दिशा में अग्रसर करने के लिये उन्हें प्रेरित करना चाहिये । वस्तुयें देकर किसी का उतना उपकार नहीं किया जा सकता है । सत्कार्य के लिये प्रेरणा देना इतना बड़ा पुण्य कार्य है कि उसकी तुलना में छोटी-मोटी पुण्य-क्रियायें बहुत ही तुच्छ बैठती हैं ।

गायत्री-गीतां होतां यो नरो वैति तत्वतः ।

स मुक्त्वा सर्वदुःखेभ्यः सदानन्दे निमज्जति ॥१४॥

अर्थ—जो मनुष्य इस गायत्री-गीता को भलीप्रकार जान लेता है, वह सब प्रकार के दुःखों से छूट कर सदा आनन्दमग्न रहता है ।

गायत्री गीता के उपर्युक्त १४ श्लोक समस्त वेद शास्त्रों में भरे हुए ज्ञान का निचोड़ है । समुद्र मन्थन से १४ रत्न निकले थे । समस्त

शास्त्रों के समुद्र का मन्थन यह १४ श्लोक रूपी १४ रत्न हैं। जो व्यक्ति इन्हें भली प्रकार हृदयंगम कर लेता है, वह कभी भी दुःखी नहीं रह सकता, उसे सदा ही आनन्द रहेगा।

## गायत्री स्मृति

**भूर्भुवः स्वस्त्रयो लोका व्याप्तमोम्ब्रह्म तेषु हि ।**

**स एव तथ्यतो ज्ञानी यस्तद्वैति विद्यक्षणः ॥१॥**

भूः भुवः और स्वः ये तीन लोक हैं, उन तीनों लोकों में ॐ ब्रह्म व्याप्त है। जो बुद्धिमान् उस ब्रह्म को जानता है, वही वास्तव में ज्ञानी है।

परमात्मा का वैदिक नाम 'ॐ' है। यह ॐ तीनों ही लोकों में व्याप्त है। भूः पृथ्वी, भुवः पाताल, स्वः स्वर्ग—ये तीनों ही लोक परमात्मा से परिपूर्ण हैं। भूः शरीर, भुवः संसार, स्वः आत्मा यह तीनों ही परमात्मा के क्रीड़ा-स्थल हैं। इन सभी स्थलों को, निखिल ब्रह्माण्ड को भगवान् का विराट् रूप समझ कर उस आध्यात्मिक उच्च भूमिका को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, जो गीता के ७७ वें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखाकर प्राप्त कराई थी। परमात्मा को सर्वत्र सर्वव्याप्त, सर्वेश्वर, सर्वात्मा देखने वाला मनुष्य माया, मोह, ममता, संकीर्णता, अनुदारता, कुविचार एवं कुकमों की अग्नि में हुलसने से बच जाता है और हर घड़ी परमात्मा के दर्शन करने से परमानन्द सुख में निमग्न रहता है। ॐ भू भुवः स्वः का तत्त्वज्ञान समझ लेने वाला ब्रह्मज्ञानी एक प्रकार से जीवन-मुक्त ही हो जाता है।

**तत्-तत्त्वज्ञास्तु विद्वांसो ब्राह्मणः स्वतपोबलैः ।**

**अंधकारमपाकुर्य - लोकादज्ञानसम्पवम् ॥२॥**

तत्त्वदर्शी विद्वान् ब्राह्मण अपने एकत्रित तप के द्वारा संसार से ज्ञान द्वारा उत्पन्न अन्धकार को दूर करें।

ब्राह्मण वे हैं जो तत्त्व को, वास्तविकता को, परिणाम को देखते हैं, जिन्होंने अपनी पढ़ाई को भाषा साहित्य, शिल्पकला, विज्ञान आदि की पेट भर्त शिक्षा तक ही सीमित न रखकर जीवन का उद्देश्य, आनन्द और साफल्य प्राप्त करने की 'विद्या' भी सीखी है। शिक्षित तो गली-कूचों में मक्खी-मच्छरों की तरह भरे पड़े हैं, पर जो विद्वान् हैं वे ही ब्राह्मण हैं।

भगवान् ने जिन्हें तत्त्वदर्शी और विद्वान् बनने की सुविधा एवं प्रेरणा दी है, उन ब्राह्मणों को अपनी जिम्मेदारी अनुभव करनी चाहिये क्योंकि गायत्री के पंच-रत्न ( ९३ )

वे सबसे बड़े धनी हैं ।

ब्राह्मणत्व विश्व का सबसे बड़ा धन है । रत्नों का भण्डार बढ़िया, कीमती, मजबूत तिजोरी में रखा जाता है । जो शरीर तपश्चूत है, तपस्या की, संयम की, तितीष्णा की, त्याग की अग्नि में तपा—तपा कर जिस तिजोरी को भली प्रकार से मजबूती से गढ़ा गया है, उसी में ब्राह्मणत्व रहेगा और ठहरेगा । जो असंयमी, भोगी, स्वार्थी, तपोविहीन हैं, वे शास्त्रों की तोतारटन्त भले ही करते हों पर उस बकवाद के अतिरिक्त अपने में ब्राह्मणत्व को भली प्रकार सुरक्षित एवं स्थिर रखने में समर्थ नहीं हो सकते । इसलिये ब्राह्मण को, सद्ज्ञान के धनी को, अपने को तपश्चूत बनाना चाहिये । तप और ब्राह्मणत्व के सम्मिश्रण से ही सोना और सुगन्ध की उकित चरितार्थ होती है ।

ब्राह्मण को भूमुर कहा जाता है । भूमुर का अर्थ है पृथ्वी का देवता । देवता वह है जो दे । ब्राह्मण संसार का सर्वश्रेष्ठ धन का, सद्ज्ञान का धनपति होता है । वह देखता है कि जो धन उसके पास अटूट भण्डारों में भरा हुआ है, उसी के अभाव के कारण सारी जनता दुख पा रही है । अज्ञान से, अविद्या से बढ़कर दुखों का कारण और कोई नहीं है । जैसे भूख से छटपटाते हुए, करुण क्रन्दन करते हुए मनुष्य को देखकर सहदय धनी व्यक्ति उन्हें कुछ दान दिये बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार अविद्या के अन्यकार में भटकते हुए जन समूह को सच्चा ब्राह्मण, अपनी सद्ज्ञान सम्पदा से लाभ पहुँचाता है । यह कर्तव्य आवश्यक एवं अनिवार्य है । यह ब्राह्मण की स्वाभाविक जिम्मेदारी है ।

गायत्री का प्रथम शब्द 'तत्' ब्राह्मणत्व की इस महान् जिम्मेदारी की ओर संकेत करता है । जिसकी आत्मा, जितने अंशों में तत्त्वदर्शी, विद्वान् और तपस्वी है, वह उतने ही अंश में ब्राह्मण है । यह ब्राह्मणत्व जिस वर्ण, कुल, वंश के मनुष्य में निवास करता है, उसी का यह कर्तव्य—धर्म है कि अज्ञान से उत्पन्न अन्यकार को दूर करने के लिये जो कुछ कर सकता हो, अवश्य करता रहे ।

**स-सत्तावन्तस्तथा शूराः क्षत्रिया लोक रक्षकाः ।**

**अन्यायाशक्तिसम्भूतान् ध्वंसयेयुर्हि त्वापदः ॥३॥**

सत्तावन् वीर और संसार के रक्षक क्षत्रिय अन्याय और अशक्ति से उत्पन्न होने वाली आपत्तियों को नष्ट करें ।

जन-बल, शरीर-बल, बुद्धि-बल, सत्ता-शक्ति, पद, शासन गौरव,

बढ़प्पन, संगठन, तेज, पुरुषार्थ, चारुर्य, साधन, साहस, शीर्य यह क्षत्रियत्व के लक्षण हैं। जिसके पास इन वस्तुओं में से जितनी अधिक मात्रा है, उतने ही अंशों में उसका क्षत्रियत्व बढ़ा हुआ है।

देखा गया है कि यह क्षत्रियत्व जब अनधिकारियों के हाथ में पहुँच जाता है तो इससे उन्हें अहंकार और मद बढ़ जाता है। अहंकार को बढ़प्पन समझकर वे उसकी रक्षा के लिये अनेक प्रकार के अनावश्यक खर्च और आडम्बर बढ़ाते हैं। उसकी पूर्ति के लिये अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है, दूसरों को सताने में अपना पराक्रम समझते हैं। व्यसनों की अधिकता होती है और इन्द्रिय लिप्सा में प्रवृत्ति बढ़ती है। ऐसी दशा में वह क्षत्रियत्व उस व्यक्ति की आत्मा को ऊँचा उठाने और तेजस्वी महापुरुष बनाने की अपेक्षा अहंकारी, दम्भी, अत्याचारी, व्यसनी और कदाचारी बना देता है। ऐसे दुरुपयोग से बचना ही उचित है।

गायत्री का 'स' अक्षर कहता है कि हे सत्तावानो ! तुम्हें सत्ता इसलिये दी गयी है कि शोषितों और निर्बलों को हाथ पकड़ कर ऊँचा उठाओ, उनकी सहायता करो और जो दुष्ट उन्हें निर्बल समझकर सताने का प्रयत्न करते हैं उन्हें अपनी शक्ति से परास्त करो। बुराइयों से लड़ने और अच्छाइयों को बढ़ाने के लिये ही ईश्वर शक्ति देता है। उसका उपयोग इसी दिशा में होना चाहिये।

**वि-वित्तशक्त्या तु कर्तव्या उचिताभावपूर्तयः ।**

**न तु शक्त्या तथा कार्यं दपौद्धत्यप्रदर्शनम् ॥३ ॥**

धन की शक्ति द्वारा तो उचित अभावों की पूर्ति करनी चाहिये। उस शक्ति द्वारा घमण्ड और उदूदण्डता का प्रदर्शन नहीं करना चाहिये।

विद्या और सत्ता की भौति धन भी एक महत्वपूर्ण शक्ति है। इसका उपार्जन इसलिये आवश्यक है कि अपने तथा दूसरों के उचित अभावों की पूर्ति की जा सके। शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा के विकास के लिये सांसारिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिये धन का उपयोग होना चाहिये और इसलिये उसे कमाया जाना चाहिये।

पर कई व्यक्ति प्रचुर मात्रा में धन जमा करने में अपनी प्रतिष्ठा अनुभव करते हैं। अधिक धन का स्वामी होना उनकी दृष्टि में कोई 'बहुत बड़ी बात' होती है। अधिक कीमती सामान का उपयोग करना, अधिक अपव्यय, अधिक भोग, अधिक विलास उन्हें जीवन की सफलता के चिन्ह मालूम पड़ते हैं। इसलिये जैसे भी बने धन कमाने की उनकी तृष्णा गायत्री के पंच-रत्न ( )

प्रबल रहती है। इसके लिये वे धर्म-अधर्म का, उचित-अनुचित का विचार करना भी छोड़ देते हैं। धन में उनकी इतनी तन्मयता होती है कि स्वास्थ्य, मनोरंजन, स्वाध्याय, आत्मोन्नति, लोक-सेवा, ईश्वराराधन आदि सभी उपयोगी दिशाओं से वे मुँह मोड़ लेते हैं। धनपतियों को एक प्रकार का नशा-सा चढ़ा रहता है, जिससे उनकी सद्बुद्धि, दूरदर्शिता और सत्-असत् परीक्षणी प्रज्ञा कुण्ठित हो जाती है। धनोपार्जन की यह दशा निन्दनीय है।

धन कमाना आवश्यक है इसलिये कि उससे हमारी वास्तविक आवश्यकताएँ उचित सीमा तक पूरी हो सकें। इसी दृष्टि से प्रयत्न और परिश्रमपूर्वक लोग धन कमावें, गायत्री का 'वि' अष्टर वित्त (धन) के सम्बन्ध में यही संकेत करता है।

**तु-तुषाराणां प्रपातेऽपि यत्नो धर्मे तु चात्मनः ।**

**महिमा च प्रतिष्ठा च प्रोक्ता पारिश्रमस्य हि ॥४॥**

तुषाराणां में भी प्रयत्न करना आत्मा का धर्म है। श्रम की महिमा और प्रतिष्ठा अपार है—ऐसा कहा गया है।

मनुष्य जीवन में विपत्तियों, कठिनाईयों, विपरीत परिस्थितियों, हानियों और कष्ट की घड़ियों भी आती ही रहती हैं। जैसे रात और दिन समय के दो पहलू हैं वैसे ही सम्पदा और विपदा, सुख और दुःख भी जीवन रथ के दो पहिये हैं। दोनों के लिये ही मनुष्य को धैर्य पूर्वक तैयार रहना चाहिये। न विपत्ति में छाती पीटे और न सम्पत्ति में इतरा कर तिरछा चले।

कठिन समय में मनुष्य के चार साथी हैं—( १ ) विवेक, ( २ ) धैर्य, ( ३ ) साहस, ( ४ ) प्रयत्न। इन चारों को मजबूती से पकड़े रहने पर दुरे दिन धीरे-धीरे निकल जाते हैं और जाते समय अनेक अनुभवों, गुणों, योग्यताओं तथा शक्तियों को उपहार में दे जाते हैं। चाकू पत्थर पर घिसे जाने पर तेज होता है, सोना अग्नि में पड़कर खरा सिद्ध होता है, मनुष्य कठिनाईयों में पड़कर इतनी शिक्षा प्राप्त करता है जितनी कि दश गुरु मिलकर भी नहीं सिखा सकते हैं। इसलिये कष्ट से डरना नहीं चाहिये वरन् उपर्युक्त चार साधनों द्वारा संघर्ष करके उसे परास्त करना चाहिये।

परिश्रम, प्रयत्न, कर्तव्य ये मनुष्य के गौरव और वैभव को बढ़ाने वाले हैं। आलसी, भाग्यवादी, कर्महीन, संघर्ष से डरने वाले, अव्यावहारिक मनुष्य प्रायः सदा ही असफल होते रहते हैं। जो कठिनाईयों पर विजयी होना और आनन्दमय जीवन का रसास्वादन करना चाहते हैं, उन्हें गायत्री मन्त्र का 'तु' अष्टर उपदेश करता है कि प्रयत्न करो, परिश्रम

करो, कर्तव्य पथ पर बहादुरी से ढटे रहो, क्योंकि पुरुषार्थी की महिमा अपार है । 'पुरुष' कहाने का अधिकारी वही है जो पुरुषार्थी है ।

**वि-श्रेष्ठ नारीं विना कोडन्यो निर्माता मनुसन्ततेः ।**

**महत्त्वं रचनाशक्तेः स्वस्याः नार्या हि ज्ञायताम् ॥५॥**

नारी के बिना मनुष्य को बनाने वाला दूसरा और कौन है अर्थात् मनुष्य की निर्मात्री नारी को अपनी रचना शक्ति का महत्त्व समझना चाहिये ।

जन-समाज दो भागों में बँटा हुआ है ( १ ) नर ( २ ) नारी । नर की उन्नति, सुविधा एवं सुरक्षा के लिये काफी प्रयत्न किया जाता है, परन्तु नारी हर द्वेत्र में पिछड़ी हुई है । फलस्वरूप हमारा आधा संसार, आधा परिवार, आधा जीवन पिछड़ा हुआ रह जाता है । जिस रथ का एक पहिया बड़ा और एक छोटा हो, जिस हल में एक दैल बड़ा और दूसरा बहुत छोटा जुता हो, उसके द्वारा संतोषजनक कार्य नहीं हो सकता । हमारा देश, हमारा समाज, समुदाय तब तक सच्चे अर्थों में विकसित नहीं कहा जा सकता जब तक कि नारी को भी नर के समान ही अपनी क्रियाशीलता एवं प्रतिभा प्रकट करने का अवसर प्राप्त न हो ।

नारी से ही नर उत्पन्न होता है । बालक की आदि गुरु उसकी माता ही होती है । पिता के वीर्य की एक बूँद निमित्त ही होती है । बाकी बालक के सब अंग-प्रत्यंग माता के रक्त से ही बनते हैं । उस रक्त में जैसी स्थिरता, प्रतिभा, विचारधारा होगी उसी के अनुसार बालक का शरीर, मस्तिष्क और स्वभाव बनेगा । नारियों यदि अस्वस्थ, अशिष्टित, अविकसित, कूप-मण्डूक और पिछड़ी हुई रहेंगी तो उनके द्वारा उत्पन्न हुए बालक भी इन्हीं दोषों से युक्त होंगे । ऊसर खेत में अच्छी फसल गैदा नहीं हो सकती । अच्छे फलों का बाग लगाना है तो अच्छी भूमि की आवश्यकता होगी ।

गायत्री का 'व' अष्टर कहता है कि यदि मनुष्य जाति अपनी उन्नति चाहती है तो उसे पहले नारी को शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक द्वेत्रों में प्रतिभावान् सुविकसित बनाना चाहिये । तभी नर समुदाय में प्रबलता, सूक्ष्मता, समृद्धि, सद्बुद्धि, सदुगुण और महानता के संस्कारों का विकास हो सकता है । नारी को पिछड़ी हुई रखना अपने पैरों में आप कुलहाड़ी मारना है ।

**रे-रेवेव निर्मला नारी पूजनीया सत्ता सदा ।**

**यतो हि सर्वं लोकेऽस्मिन् साक्षात्लक्ष्मीर्मता बुधैः ॥६॥**

सज्जन पुरुष को हमेशा नर्मदा नदी के समान निर्मल नारी की पूजा करनी चाहिये क्योंकि विद्वानों ने उसी को इस संसार में साक्षात् लक्ष्मी माना है ।

जैसे नर्मदा नदी का जल सदा निर्मल रहता है, उसी प्रकार ईश्वर ने नारी को निर्मल अन्तक्ररण दिया है । परिस्थिति दोष के कारण अथवा दुष्ट संगति से कभी-कभी उसमें विकार पैदा हो जाते हैं, पर इन कारणों को बदल दिया जाय तो नारी हृदय पुनः अपनी शास्त्रत निर्मलता पर लौट आता है । स्फटिक मणि को रंगीन मकान में रखा जाय या उसके निकट कोई रंगीन पदार्थ रख दिया जाय तो वह मणि भी रंगीन छाया के कारण रंगीन दिखाई पड़ने लगती है । परन्तु पीछे जब उन कारणों को हटा दिया जाय तो वह शुद्ध, निर्मल, शुभ्र मणि ही दिखाई पड़ती है । इसी प्रकार नारी जब बुरी परिस्थितियों में फँसी हो तब बुरी दिखाई देती है । उस परिस्थिति का अन्त होते ही वह निर्मल एवं निर्दोष हो जाती है ।

वैधव्य, किसी की मृत्यु घटा आदि दुर्घटनायें घटित होने पर उसे नव आगन्तुक वधु के आय का दोष बताना नितान्त अनुचित है । ऐसी घटनायें होतव्यता के अनुसार होती हैं । नारी तो लक्ष्मी का अवतार होने से सदा ही कल्याणकारिणी और मंगलमयी है । गायत्री का अहर 'ऐ' नारी सम्पान की अमिकृद्धि चाहता है ताकि लोगों को मंगलमय वरदान प्राप्त हो ।

**ए्य-न्यसन्ते ये नराः पादान् प्रकृत्याज्ञानुसारतः ।**

**स्वस्थाः सन्तस्तु ते नूनं रोगमुक्ता भवन्ति हि ॥७॥**

जो मनुष्य प्रकृति की आज्ञानुसार पैरों को रखते हैं अर्थात् प्रकृति की आज्ञानुसार चलते हैं वे मनुष्य स्वस्थ होते हुए निश्चय ही रोगों से मुक्त हो जाते हैं ।

स्वास्थ्य को ठीक रखने और बढ़ाने का राजमार्ग प्रकृति के आदेशानुसार चलना, प्राकृतिक आहार-विहार अपनाना, प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना है । अप्राकृतिक, अस्वासाधिक, बनावटी, आडम्बर, और विलासिता से भरा हुआ जीवन बिताने से लोग बीमार बनते हैं और अल्पायु में ही काल के ग्रास बन जाते हैं ।

( १ ) शूख लगने पर खूब चबाकर प्रसन्न चित्त से, थोड़ा पेट खाली रखकर भोजन करना ( २ ) फल, शाक, दूध, दही, छिलके समेत अन्न और दालें जैसे ताजे सात्विक आहार लेना । ( ३ ) नशीली चीजें, मिर्च-मसाले, चाट, पकवान, मिठाइयाँ, मौंस आदि अमर्श्यों से बचना ।

% )

( गायत्री के पंच-रत्न

(४) सामर्थ्य के अनुकूल श्रम एवं व्यायाम करना । (५) शरीर, वस्त्र, मकान और प्रयोजनीय सामान की भली प्रकार सफाई रखना । (६) रात को जल्दी सोना और प्रातः जल्दी उठना । (७) मनोरंजन, देशाटन, निर्दोष विनोद के लिये पर्याप्त अवसर प्राप्त करते रहना । (८) कामुकता, चटोरेपन, अन्याय, बैईमानी, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, क्रोध, पाप आदि के कुविचारों से मन को हटाकर सदा प्रसन्नता और सात्त्विकता के सदृचिचारों में रमण करना (९) स्वच्छ जलवायु का सेवन (१०) उपवास, ऐनेमा, फ्लाहार, जल, भिट्टी आदि प्राकृतिक उपचारों से रोग-मुक्ति का उपाय करना । ये दश नियम ऐसे हैं जिन्हें अपनाकर प्राकृतिक जीवन बिताने से खोये हुए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करना और प्राप्त स्वास्थ्य को सुरक्षित एवं उन्नत बनाना बिल्कुल सरल है । गायत्री का 'ष्य' अझर यही उपदेश करता है ।

**भ-भवोद्धिग्नमना नैव हुदुद्देगं परित्यज ।**

**कुरु सर्वव्यवस्थासु शांतं संतुलितं मनः ॥८॥**

मानसिक उत्तेजना को छोड़ दो । सभी आवश्यकताओं में मन को शान्त और संतुलित रखो ।

शरीर में उष्णता की मात्रा अधिक बढ़ जाना 'ज्वर' कहलाता है और ज्वर अनेक दुष्परिणामों को पैदा कर सकता है वैसे ही उद्देग आवेश, उत्तेजना, मद, आतुरता आदि लक्षण मानसिक ज्वर के हैं । आवेश का अन्यड़ त्रूफान जिस समय मन में आता है उस समय ज्ञान, विवेक सब का लोप हो जाता है और उस सन्निपात से ग्रस्त व्यक्ति अंड-बंड बाँतें बकता है, न करने लायक अस्त-व्यस्त क्रियायें करता है । वह स्थिति मानव जीवन में सर्वथा अवांछनीय है ।

विपत्ति पड़ने पर लोग चिन्ता, शोक, निराशा, भय, घबराहट, क्रोध, कायरता आदि विषादात्मक आवेश से ग्रस्त हो जाते हैं और सम्पत्ति बढ़ने पर अहंकार, मद, मत्सर, अति हर्ष, अमर्यादा, नास्तिकता, अतिभोग, ईर्ष्या, द्वेष आदि विष्वसक उत्तेजना में फँस जाते हैं । कई बार लोभ और भोग का आकर्षण उन्हें इतना लुभा लेता है कि वे औँखें रहते हुए भी अन्ये हो जाते हैं । इन तीनों स्थितियों में मनुष्य का होश-हवास दुरुस्त नहीं रहता । देखने में वह स्वस्थ और भला-चंगा दीखता है, पर वस्तुतः उसकी आन्तरिक स्थिति पागलों, बालकों, रोगियों तथा उन्मत्तों जैसी हो जाती है । ऐसी स्थिति मनुष्य के लिये विपत्ति, त्रास, गायत्री के पंच-रत्न )

अनिष्ट और अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकती । इसलिये गायत्री के 'भू' शब्द का सन्देश है कि इन आवेशों और उत्तेजनाओं से बचो । दूरदर्शिता, विवेक, शान्ति और स्थिरता से काम लो । बदली की भाया की तरह रोज घटित होती रहने वाली रंग-बिरंगी घटनाओं से अपनी आन्तरिक शांति को नष्ट न होने दो । मस्तिष्क को स्वस्थ रखें, चित्त को शान्त रहने दो, आवेश की उत्तेजना से नहीं, विवेक और दूरदर्शिता के आधार पर अपनी विचारधारा और कार्य प्रणाली को चलाओ ।

**ओ—गोप्यः स्वीया मनोवृत्तिर्नासहिष्णुर्नरो भवेत् ।**

**स्थितिमन्यस्य च वीक्ष्य तदनुरूपतां चरेत् ॥१॥**

अपने मनोआवों को नहीं छिपाना चाहिये । मनुष्य को असहिष्णु नहीं होना चाहिये । दूसरे की स्थिति को देखकर उसके अनुसार आचरण करे ।

अपने मनोआव और मनोवृत्ति को छिपाना, छल, कपट और पाप है । जैसे भीतर है वैसे ही बाहर प्रकट कर दिया जाय तो वह पाप निवृत्ति का सबसे बड़ा राजमार्ग है । कोई व्यक्ति यदि अधिक रहस्यवादी हो, अधिक अपराधी कार्य करता हो तो भी वह अपने कुछ ऐसे आत्मीय-विश्वासी जनों से सम्पर्क अवश्य रखना चाहता है, जिनके आगे अपने सब रहस्य प्रकट करके मन हल्का कर लिया करे । ऐसे आत्मीय मित्र और गुरुजन हर मनुष्य को नियुक्त कर लेने चाहिये ।

प्रत्येक मनुष्य के दृष्टिकोण, विचार, अनुभव, अस्थास, ज्ञान, स्वार्थ, रुचि एवं संस्कार विभिन्न होते हैं । इसलिये सबका सोचना एक प्रकार का नहीं हो सकता । इस तथ्य को समझते हुए दूसरों के प्रति सहिष्णुता होनी चाहिये । अपने से किसी भी अंश में मतभेद रखने वाले को मूर्ख, अज्ञानी, दुराचारी या विरोधी मान लेना उचित नहीं । ऐसी असहिष्णुता झगड़ों की जड़ है । एक-दूसरे के दृष्टिकोण के अन्तर को समझते हुए यथासम्बन्ध समझीते का मार्ग निकालना चाहिये । फिर भी जो मतभेद रह जाय उसे पीछे धीरे-धीरे सुलझाते रहने के लिये छोड़ देना चाहिये ।

संसार में सभी प्रकृति के मनुष्य हैं । भूर्भु, भिन्नान्, रोगी, स्वस्थ, पापी, पुण्यात्मा, पाखण्डी, कायर, वीर, कटुवादी, नम, चोर, ईमानदार, निन्दनीय, आदरास्पद, स्वधर्मी, विधर्मी, दया-पात्र, दण्डनीय, शुष्क, सरस, भोगी, त्यागी आदि परस्पर विरोधी स्थितियों के मनुष्य भरे पड़े हैं । उनकी स्थिति को देखकर तदनुसार उनसे भाषण, व्यवहार, सहयोग करे । उनकी

स्थिति के आधार पर ही उनके लिये शक्य सलाह दे । सबसे एक समान व्यवहार नहीं हो सकता और न सब एक मार्ग पर चल सकते हैं । यह सब बातें 'गो' अक्षर हमें सिखाता है ।

**दे-देयानि स्ववशे पुंसा स्वेन्द्रियाण्यखिलानि वै ।**

**असंयतानि खादन्तीन्द्रियाण्येतानि स्वामिनम् ॥१०॥**

मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों अपने वश में करनी चाहिये । ये असंयत इन्द्रियों स्वामी को खाती हैं ।

इन्द्रियों आत्मा के ओजार हैं, घोड़े हैं, सेवक हैं । परमात्मा ने इन्हें इसलिये प्रदान किया है कि इनकी सहायता से आत्मा की आवश्यकता पूरी हों और सुख मिले । सभी इन्द्रियों बढ़ी उपयोगी हैं । सभी का काम जीव को उत्कर्ष एवं आनन्द प्रदान करना है । यदि उसका सदुपयोग हो तो क्षण-क्षण पर भानव-जीवन का मधुर रस चखता हुआ प्राणी अपने भाग्य को सराहता रहेगा ।

किसी इन्द्रिय का भोग पाप नहीं है । सच तो यह है कि अन्तकरण को, विविध बुधाओं को, तुष्णियों को तृप्त करने का इन्द्रियों एक माध्यम हैं । जैसे पेट की भ्रुख-प्यास को न बुझाने से शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर की बुधायें उचित रीति से तृप्त न की जाती रहें तो आंतरिक क्षेत्र का सन्तुलन बिगड़ जाता है और अनेक मानसिक रोग उठ खड़े होते हैं ।

इन्द्रिय भोगों की जगह-जगह निन्दा की जाती है और वासनाओं को दमन करने का उपदेश दिया जाता है । उसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि अनियन्त्रित इन्द्रियों स्वाधाविक एवं आवश्यक मर्यादा का उल्लंघन करके इतनी स्वेच्छाचारी एवं चटोरी हो जाती हैं कि वे स्वास्थ और धर्म के लिये संकट उत्पन्न करके भो मनमानी करती हैं । आजकल अधिकांश मनुष्य इसी प्रकार के इन्द्रिय-गुलाम हैं । अपनी वासना पर काबू नहीं रख सकते । बेकाबू हई वासना अपने स्वामी को खा जाती है ।

गायत्री का 'दे' अक्षर आत्म-नियन्त्रण का उपदेश देता है ।

**व-वस नित्यं पवित्रः सन् बाह्याऽभ्यन्तरतस्तथा ।**

**यतः पवित्रतायां हि राजतेऽतिप्रसन्नता ॥११॥**

मनुष्य को बाहर और भीतर सब तरह से पवित्र होकर रहना चाहिये, क्योंकि पवित्रता में ही प्रसन्नता रहती है ।

मलीनता अन्य तामसिकता की प्रतीक है। आलस्य और दारिद्र्य, पाप और पतन जहाँ रहते हैं, वहाँ मलीनता एवं गन्दगी का निवास होता है। जो इस प्रकृति के हैं उनके वस्त्र, घर, सामान, शरीर, मन सब में गन्दगी और अस्तव्यस्तता भरी रहती है। इसके विपरीत जहाँ चैतन्यता, जागरूकता, सुरुचि, सात्त्विकता होगी वहाँ सबसे पहले स्वच्छता की ओर ध्यान जायगा। सफाई, सादगी, सजावट, व्यवस्था का नाम ही पवित्रता है।

मलीनता से घृणा होनी चाहिये पर उसे हटाने या उठाने में सचि होनी चाहिए। जो गन्दगी को छूने या उसे उठाने, हटाने से हिचकिचाते हैं वे सफाई नहीं रख सकते। मन में, शरीर में, वस्त्रों में समाज में हर घड़ी गन्दगी पैदा होती है। निरन्तर टूट-फूट का जीर्णोद्धार न किया जाय, तो गन्दगी बढ़ती जायगी और सफाई चाहने की इच्छा केवल एक कल्पना भाव बनी रह जायगी।

गायत्री का 'व' अक्षर स्वच्छता का सन्देश देता है। स्वच्छ शरीर, स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ निवास, स्वच्छ सामान, स्वच्छ जीविका, स्वच्छ विचार, स्वच्छ व्यवहार जिसमें इस प्रकार की स्वच्छतायें निवास करती हैं, वह पवित्रात्मा मनुष्य निष्पाप जीवन व्यतीत करता हुआ पुण्य गति को प्राप्त करता है।

**स्व-स्यन्दनं परमार्थस्य परार्थो हि बुधैर्मतः ।**

**योऽन्यान् सुखयते विद्वान् तस्य दुःखं विनश्यति ॥१२॥**

दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करना परमार्थ का रथ है, ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है। जो विचारवान् दूसरे लोगों को सुख देता है, उसका दुःख नष्ट हो जाता है।

लोक व्यवहार के तीन मार्ग हैं—( १ ) अर्थ—जिसमें दोनों पक्ष समान रूप से आदान-प्रदान करते हैं, ( २ ) स्वार्थ-दूसरों को हानि पहुँचा कर अपना लाभ करना, ( ३ ) परमार्थ-अपनी हानि करके भी दूसरों को लाभ पहुँचाना। स्वार्थ में चोरी, ठगी, अपहरण, शोषण वैर्झमानी आदि आते हैं। परमार्थ में दान, सेवा, सहायता, शिक्षा आदि कार्यों को कहा जाता है।

अर्थ ( जीविका ) हमारा नित्यकर्म है। उसके बिना जीवन यात्रा भी नहीं चल सकती। आहार, निद्रा, भोजन, मल-त्याग आदि के समान स्वाभाविक होने के कारण उसका विधि निषेध कुछ नहीं है। वह तो हर एक को करना ही होता है। स्वार्थ त्याज्य है, निन्दनीय है, पाप-मूलक है, उससे यथासंभव बचते ही रहना चाहिये। परमार्थ धर्म कार्य है, इससे अपने को त्याग का, उदारता का अभ्यास बढ़ता है, आत्म-कल्याण

का धर्म-मार्ग प्रशस्त होता है तथा उससे दूसरों का लाभ होने से वह प्रसन्न होकर बदले में प्रत्युपकार करते हैं, प्रशंसा और आदर देते हैं और कृतज्ञ रहते हैं।

गायत्री का 'स्य' शब्द प्रेरणा देता है कि हर मनुष्य का कर्तव्य है कि अर्थ उपार्जन करता हुआ स्वार्थ से बचे और परमार्थ के लिये यथा सम्बन्ध प्रयत्नशील रहे। अपना पेट तो पशु-पक्षी भी भर लेते हैं, प्रशंसनीय वह है जिसके द्वारा दूसरे भी लाभ उठावें।

धी-धीरस्तुष्टो भजेन्नैव ह्येकस्यां समुन्नतौ ।

क्रियतामुन्नतिस्तेन सर्वास्वाशासु जीवने ॥१३॥

धीर पुरुष को एक ही प्रकार की उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये। मनुष्य को जीवन की सभी दिशाओं में उन्नति करनी चाहिये।

जैसे मनुष्य के कई अंग हैं और उन सभी का पुष्ट होना आवश्यक होता है, वैसे ही जीवन की अनेक दिशायें हैं और उन सभी का विकास होना सर्वतोमुखी उन्नति का चिन्ह है। यदि पेट बहुत बढ़ जाय और हाथ-पौंछ पतले हो जायें तो इस विषमता से प्रसन्नता न होकर चिन्ता ही बढ़ेगी। इसी प्रकार यदि कोई आदमी केवल धनी, केवल विद्वान् या केवल पहलवान बन जाय तो वह उन्नति पर्याप्त न होगी। वह पहलवान किस काम का जो दाने-दाने को मोहताज हो। वह विद्वान् किस काम का जो रोगों से ग्रस्त हो। वह धनी किस काम का जिसके पास न विद्या है न तन्दुरुस्ती।

केवल एक ही दिशा में उन्नति के लिये अत्यधिक प्रयत्न करना और अन्य दिशाओं की उपेक्षा करना, उनकी ओर से उदासीन रहना उचित नहीं। जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, नैऋत्य, आग्नेय आठ दिशायें हैं वैसे ही जीवन की भी आठ दिशा है, आठ बल हैं। (१) स्वास्थ्य-बल, (२) विद्या-बल, (३) धन-बल, (४) मित्र-बल, (५) प्रतिष्ठा-बल, (६) चारुर्य-बल, (७) साहस-बल, (८) आत्म-बल। इन आठों का यथोचित मात्रा में संचय होना चाहिये। जैसे किसान खेत को सब ओर से रखाता है, जैसे चतुर सेनापति युद्ध खेत के सब मोर्चों की रक्षा करता है, वैसे ही जीवन के ये आठों मोर्चे सावधानी के साथ ठीक रखे जाने चाहिये। जिधर भी भूल रह जायगी उधर से ही शत्रु का आक्रमण होने और परास्त होने का भय रहेगा।

गायत्री का 'धी' शब्द हमें सजग करता है कि आठों बल बढ़ाओ, गायत्री के पंच-रत्न ( २३ )

आठों मोर्चों पर सजग रहो, अष्टभुजी दुर्गा की उपासना करो, आठों दिशाओं की रखवाली करो तभी सर्वांगीण उन्नति हो सकेगी ।

**म—महेश्वरस्य विज्ञाय नियमान्व्याय संयुतान् ।**

**तस्य सत्तां च स्वीकुर्वन् कर्मणा तमुपासयेत् ॥१४॥**

“परमात्मा के न्यायपूर्ण नियमों को समझकर और उसकी सत्ता को स्वीकार करते हुए कम से कम उस परमात्मा की उपासना करो ।”

परमात्मा के नियम न्यायपूर्ण हैं । सृष्टि में उसके प्रधान कार्य भी दो ही हैं । ( १ ) संसार को नियमबद्ध रखना, ( २ ) कर्मों का न्यायानुकूल फल देना । इन दोनों ईश्वरीय प्रधान कार्यों को समझकर जो अपने को नियमानुसार बनाता है, प्रकृति के कठोर नियमों को ध्यान में रखता है, सामाजिक, राजकीय, धार्मिक, लोक-हितकारी कानूनों, कायदों को मानता है वह एक प्रकार से ईश्वर को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है । इसी प्रकार जो यह समझता है कि न्याय की अदालत में खड़ा होना ही पढ़ेगा और बुरे-भले कर्मों के अनुसार दुःख-सुख की प्राप्ति अनिवार्यतः होगी वह ईश्वर के समीप पहुँचता है । काम करने पर ही उसकी उज्जरत मिलती है । जो पसीना बहायेगा, परिश्रम करेगा, पुरुषार्थ, उद्योग और चतुरता का परिचय देगा, उसे उसके प्रयत्न के अनुसार साधन सामग्री जुटाने में सफलता मिलेगी ।

परमात्मा की पूजा उपासना की जितनी साधनायें हैं, जितने कर्मकाण्ड हैं, उनका तात्पर्य यही है कि साधक परमात्मा के अस्तित्व पर उसकी सर्वज्ञता और सर्वव्याप्तकता पर विश्वास करे । यह विश्वास जितना दृढ़ होगा, उतना ही उसे परमात्मा का नियम और न्याय स्परण रहेगा । इन दोनों की कठोरता और निश्चिन्नता पर विश्वास होना, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा का हेतु है । जो समझता है कि शीघ्र या देर-सबेर में तुरन्त या विलम्ब से कर्म का फल मिले बिना नहीं रह सकता, वह आलसी या कुकर्मी नहीं हो सकता । जो आलस्य और कुकर्म से जितना बचता है वह ईश्वर का उतना ही बड़ा भक्त है । गायत्री का ‘म’ अक्षर ईश्वर उपासना के रहस्य का स्पष्टीकरण करता है । बताता है कि ईश्वरीय नियम और न्याय का ध्यान रखते हुए हम सत्पथ पर चलें ।  
**हि-हितं मत्त्वा ज्ञानकेन्द्रं स्वातंत्र्येण विचारयेत् ।**  
**नान्धानुसरणं कुर्यात् कदाचित् कोऽपि कस्यचित् ॥१५॥**

“हितकारी ज्ञान केन्द्र को समझकर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करे । कभी भी कोई किसी का अन्यानुसरण न करे ।”

देश, काल, पात्र, अधिकार और परिस्थिति के अनुसार मानव जाति के हल और सुविधा के लिये विविध प्रकार के नियम, धर्मोपदेश, कानून और प्रथाओं का निर्माण एवं परिचालन होता है । परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ इन प्रथाओं एवं मान्यताओं का परिवर्तन होता रहता है ।

समाज के सुसंचालन के लिये प्रथायें हैं । मनुष्य जाति की सुव्यवस्था के लिये उन्हें बनाया गया है । ऐसा नहीं कि उन प्रथाओं को अपरिवर्तनशील समझ कर समाज और जाति के लिये उन्हें अमिट लकीर मान लिया जाय । संसार में आदि काल से बराबर परिवर्तन होता आ रहा है । कई रिवाजें आज के लिये अनुपयुक्त हैं, तो ऐसा नहीं कि परम्परा मोह के कारण उनका अन्यानुकरण किया ही जाय ।

गायत्री का ‘हि’ अश्वर कहता है कि मनुष्य समाज के हित का ध्यान रखते हुए देश, काल और विवेक के अनुसार प्रथाओं को, परम्पराओं को बदला जा सकता है । आज हिन्दू समाज में ऐसी अगणित प्रथायें प्रचलित हैं, जिन्हें बदलने की अत्यधिक आवश्यकता है ।

**धि-धिया मृत्युं स्मरन् मर्म जानीयाज्जीवनस्य च ।**

**तदा लक्ष्यं समालक्ष्य पादौ सन्ततमाक्षिपेत् ॥१६॥**

“बुद्धि से मृत्यु का ध्यान रखे और जीवन के मर्म को समझे, तब अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर अपने पैरों को चलावें अर्थात् निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़े ।”

जीवन और मृत्यु के रहस्य को विवेकपूर्वक गम्भीरता से समझना आवश्यक है । मृत्यु कोई ढरने की बात नहीं, पर उसे ध्यान में रखना आवश्यक है । न जाने किस समय मृत्यु सामने आ खड़ी हो और कूच की तैयारी करनी पड़े । इसलिये जो समय हाथ में है, उसे अच्छे से अच्छे उपयोग में लाना चाहिये । घन, यीवन आदि अस्थिर हैं । छोटे से रोग या हानि से इनका विनाश हो सकता है, इसलिये इनका अहंकार न करके, दुरुपयोग न करके, ऐसे कार्यों में लगाना चाहिये, जिससे भावी जीवन में सुख-शान्ति की अभिवृद्धि हो ।

जीवन एक अभिनय है और मृत्यु उसका पटाक्षेप है । इस अभिनय को हमें इस प्रकार करना चाहिये, जिससे दूसरों की प्रसन्नता बढ़े और अपनी प्रशंसा हो । नाटक या खेल के समय सुखपूर्ण और दुःख भरे गायत्री के पंच-रत्न ।

अनेकों अवसर आते हैं, पर अभिनयकर्ता समझता है कि यह केवल खेल मात्र हो रहा है, इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है, उस खेल के समय होने वाले दुश्ख के अभिनय में न दुःखी होता है न सुख के अभिनय में सुखी। वरन् अपना कौशल प्रदर्शित करने में, अपनी नाट्य सफलता में प्रसन्नता अनुभव करता है। जीवन नाटक का भी अभिनय इसी प्रकार होना चाहिये। हर समय मनुष्य पर आये दिन आने वाली सम्पदा-विपदा का कुछ महत्व नहीं, उनकी ओर विशेष ध्यान न देकर अपना कर्म-कौशल दिखाने के लिये हमें प्रयत्नशील रहना चाहिये। मृत्यु जीवन का अन्तिम अतिथि है। उसके स्वागत के लिये सदा तैयार रहना चाहिये। अपनी कार्य प्रणाली ऐसी रखनी चाहिये कि किसी भी समय मृत्यु सामने आ खड़ी हो तो तैयारी में कोई कमी अनुभव न करनी पड़े।

गायत्री का 'धि' अष्टर जीवन और मृत्यु के सत्य को समझाता है। जीवन को इस प्रकार बनाओ जिससे मृत्यु के समय पश्चात्ताप न हो। जो वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को उत्तम बनाने के लिये प्रयत्नशील हैं, वे जीवन और मृत्यु का रहस्य भली प्रकार जानते हैं।

**यो-यो धर्मो जगदाधारः स्वाचरणे तमानय ।**

**मा विडम्बय तं सोऽस्ति होको मार्गे सत्यायकः ॥१७॥**

"जो धर्म संसार का आधार है, उस धर्म को अपने आचरण में लाओ। उसकी विडम्बना मत करो। वह तुम्हारे मार्ग में एक ही अद्वितीय सहायक है।"

धर्म संसार का आधार है। उसके ऊपर विश्व का समस्त भार रखा हुआ है। यदि धर्माचरण उठ जाय और सब लोग पूर्ण रूप से अधर्मी बन जायें तो एक क्षण के लिये भी कोई प्राणी चैन से न बैठ सकेगा। सबको अपने प्राण बचाने और दूसरे का अपहरण करने की चक्की के दुहरे पाटों के बीच पिसना पड़ेगा। आज अनेक व्यक्ति लुकछिप कर अधर्माचरण करते हैं पर उन्हें भी यह साहस नहीं होता कि प्रत्यक्षतः अपने को अधर्मी घोषित करें या अधर्म को उचित ठहराने की वकालत करें। बुराइयाँ भी भलाई की आड़ लेकर की जाती हैं। इससे प्रकट है कि धर्म ऐसी मजबूत चीज है कि उसी का आश्रय लेकर, आड़कर दुष्ट दुराचारी भी अपना बेड़ा पार लगाते हैं। ऐसे मजबूत आधार को ही हमें अपना अवलम्बन बनाना चाहिये।

कई आदमी धर्म को कर्मकाण्ड का, पूजा-पाठ का तीर्थ-व्रत, दान आदि का विषय मानते हैं और कुछ समय इनमें लगाकर शेष समय को

नैतिक-अनैतिक कैसे ही कार्य करने के लिये स्वतंत्र समझते हैं । यह आन्त धारणा है । धर्म, पूजा-पाठ तक ही सीमित रहने वाली वस्तु नहीं है वरन् उसका उपयोग तो अपनी प्रत्येक विचारधारा और क्रिया-प्रणाली में पूरी तरह होना चाहिये ।

गायत्री का 'यो' अस्तर बताता है कि धर्म की विडम्बना मत करो, उसे आडम्बर का आचरण मत बनाओ, वरन् उसे अपने जीवन में घुला डालो । जो कुछ सोचो, जो कुछ करो, वह धर्मनुकूल होना चाहिये । शास्त्र की उक्ति है कि—“रक्षा किया हुआ धर्म अपनी रक्षा करता है और धर्म को जो मारता है, धर्म उसे मार डालता है ।” इस तथ्य को ध्यान में रखकर हमें धर्म को ही अपनी जीवन नीति बनाना चाहिये ।

**यो-योजन व्यसनेभ्यः स्यात्तानि पुंसस्तु शत्रवः ।**

**मिलित्वैतानि सर्वाणि समये छन्ति मानवम् ॥१८॥**

“व्यसनों से योजन भर दूर रहे अर्थात् व्यसनों से बचा रहे, क्योंकि वे मनुष्य के शत्रु हैं । ये सब मिलकर समय पर मनुष्य को मार देते हैं ।”

व्यसन मनुष्य के प्राणघातक शत्रु हैं । मादक पदार्थ व्यसनों में प्रधान हैं । तम्बाकू, गांजा, चरस, भांग, अफीम, शराब आदि नशीली चीजें एक से एक बढ़कर हानिकारक हैं । इनसे शृणिक उत्तेजना आती है । जिन लोगों की जीवनी-शक्ति क्षीण एवं दुर्बल हो जाती है वे अपने को शिथिल तथा अशक्त अनुभव करते हैं । उनका उपचार, आचार, विहार प्रभृति में अनुकूल परिवर्तन करके शक्ति संचय की वृत्ति द्वारा वर्धन होना चाहिये । परन्तु आन्त मनुष्य दूसरा मार्ग अपनाते हैं । वे थके घोड़े को चाबुक मार-मारकर दौड़ाने का उपक्रम करके चाबुक को शक्ति का केन्द्र मानने की शुल्क करते हैं । नशीली चीजें मस्तिष्क को मूर्छित कर देती हैं, जिससे मूर्छांकाल में शिथिलतावश पीड़ा नहीं होती । दूसरी ओर वे चाबुक मार-मार कर उत्तेजित करने की क्रिया करती हैं । नशीली चीजों का सेवन करने वाला ऐसा समझता है कि वे मुझे बल दे रही हैं, पर वस्तुतः उनसे बल नहीं मिलता, वरन् रही बची हुई शक्तियाँ भड़ककर बहुत शीघ्र समाप्त हो जाती हैं और मादक द्रव्य सेवन करने वाला व्यक्ति दिन-दिन क्षीण होते-होते अकाल मृत्यु के मुख में चला जाता है । व्यसन मित्र के वेष में शरीर में घुसते हैं और शत्रु बनकर उसे मार डालते हैं ।

नशीले पदार्थों के अतिरिक्त और भी ऐसी आदतें हैं जो शरीर और मन को हानि पहुँचाती हैं पर आकर्षण और आदत के कारण मनुष्य गायत्री के पंच-रत्न )

उनका गुलाम बन जाता है । वे उससे छोड़े नहीं छूटते । सिनेमा, नाचरंग, व्यधिचार, मुर्गा, तीतर, बटेर लड़ाना आदि कितनी ही हानिकारक और निरर्थक आदतों के शिकार बनकर लोग अपना धन, समय और स्वास्थ्य निरर्थक बरबाद करते हैं ।

गायत्री का 'यो' अक्षर व्यसनों को दूर करने का आदेश करता है, क्योंकि ये शरीर और मन दोनों का नाश करने वाले हैं । व्यसनी मनुष्य की वृत्तियाँ नीच मार्ग की ओर ही चलती हैं ।

**नः-नः श्रृण्वेकामिमां वार्ता “जागृतस्त्वं सदा भव” ।  
सप्रमादं नरं नूनं ह्याक्रामन्ति विपक्षिणः ॥१९॥**

"हमारी यह एक बात सुनो कि तुम हमेशा जागृत रहो, क्योंकि निश्चय ही सोते हुए मनुष्य पर दुश्मन आक्रमण करते हैं ।"

असावधानी, आलस्य, बेखबरी, अदूरदर्शिता ऐसी भूलें हैं जिन्हें अनेक आपत्तियों की जननी कह सकते हैं । बेखबर आदमी पर चारों ओर से हमले होते हैं । असावधानी में ऐसा आकर्षण है, जिससे खिच-खिच कर अनेक प्रकार की हानियाँ, विपत्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं । असावधान आलसी पुरुष एक प्रकार का अर्थमृत है । मरी हुई लाश को पढ़ी देखकर जैसे चील, कौए, कुत्ते, शृंगाल, गिर्द दूर-दूर से दौड़कर वहाँ जमा हो जाते हैं, वैसे ही असावधान पुरुष के ऊपर आक्रमण करने वाले तत्त्व कहीं न कहीं से आकर अपनी घात लगाते हैं ।

जो स्वास्थ्य की रक्षा के लिये जागरूक नहीं हैं, उसे देर-सबेर में बीमारियाँ आ दबोचेंगी । जो नित्य आते रहने वाले उतार-चढ़ावों से बेखबर है वह किसी दिन दिवालिया बनकर रहेगा । जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर सरीखे मानसिक शत्रुओं की गति-विधियों की ओर औंखें बन्द किये रहता है वह कुविचारों और कुकमों के गर्त में गिरे बिना न रह सकेगा । जो दुनियाँ के छल, फरेब, झूँठ, ठगी, लूट, अन्याय, स्वार्थपरता, शैतानी आदि की ओर से सावधान नहीं रहता उसे उल्लू बनाने वाले, ठगने वाले, सताने वाले अनेकों पैदा हो जाते हैं । जो जागरूक नहीं, जो अपनी ओर से सुरक्षा के लिये प्रयत्नशील नहीं रहता उसे दुनियाँ के शैतानी तत्त्व बुरी तरह नौच खाते हैं ।

इसलिये गायत्री का 'नः' अक्षर हमें सावधान करता है कि होशियार रहो, सावधान रहो, जागते रहो कि तुम्हें शत्रुओं के आक्रमण का शिकार न बनना पड़े ।

**प्र-प्रकृत्या तु भवोदारो नानुदारः कदाचन ।**

**चिन्तयोदारदृष्ट्यैव तेन चित्तं विशुद्ध्यति ॥२०॥**

“स्वभाव से ही उदार होओ, कभी भी अनुदार मत बनो, उदार दृष्टि से ही विचार करो—ऐसा करने से चित्त शुद्ध हो जाता है।”

अपनी बात, अपनी रीति, अपनी रिवाज, अपनी मान्यता, अपनी अकल को ही सही मानना और दूसरे सब लोगों को मूर्ख, आन्त, बेईमान ठहराना अनुदारता का लक्षण है। अपने लाभ के लिये चाहें सारी दुनियाँ का विनाश होता हो तो हुआ करे, ऐसी नीति अनुदार लोगों की होती है। वे सिर्फ अपनी सुविधा और इच्छा को सर्वोपरि रखते हैं। दूसरों की कठिनाई और असुविधा का उन्हें जरा भी ध्यान नहीं होता।

ऐसी अनुदारता पश्चता की सूचक है। जिद्दी, दुराग्रही, घमण्डी, खुदगर्ज, संकीर्ण भाव वाले मनुष्यों की वाणी बड़ी रुखी, विचारधारा बड़ी शुष्क एवं क्रिया बड़ी कर्कश होती है। गायत्री का सदेश सुनने और समझने वालों को ऐसा अनुदार कदापि न होना चाहिए। दूसरों के विचारों, तर्कों, स्वार्थों और परिस्थितियों को समझकर मतभेद होते हुए भी उनका आदर करना सीखना चाहिए। दूसरे लोग अपनी सुविधा और स्थिति के अनुसार किसी बात को सोचते हैं। जब वह अपनी बात को ठीक समझने के लिए ढूँढ़ता है तो दूसरे की वैसी ढूँढ़ता के लिए उसे क्यों कोसना चाहिए।

गायत्री का ‘प्र’ अब्दर कहता है कि दूसरों की भूलों और कमियों के प्रति हमें कठोर नहीं, उदार होना चाहिये। उनकी उचित इच्छाओं, आवश्यकताओं और मौंगों के प्रति हमारी सहानुभूति होनी चाहिये।

**चो-चोदयत्येव सत्संगो धियमस्य फलं महत् ।**

**स्वमतो सज्जनैर्विद्वान् कुर्यात् पर्यावृतं सदा ॥२१॥**

“सत्संग बुद्धि को प्रेरणा देता है। इस सत्संग का फल महान् है। इसलिये विद्वान् अपने आपको हमेशा सत्पुरुषों से धिरा हुआ रखें, अर्थात् हमेशा सज्जनों का संग करें।”

मनुष्य का मस्तिष्क निर्मल जल के समान है। वातावरण, संस्कार और अनुकरण के साधन उसे विभिन्न दिशाओं में मोड़ते हैं। पानी का बहाव नाव को बहा ले जाता है। हवा जिधर को चलती है, पत्ते उधर ही उड़ते हैं। मनुष्य जिस वातावरण में रहता है, रमता है, उधर ही उसकी मनोवृत्तियाँ चलने लगती हैं और धीरे-धीरे वह उसी ढौंचे में ढलने

लगता है। जैसे दो बालकों में से जन्म से ही एक को कसाई के यहाँ रखा जाय तथा एक को ब्राह्मण के यहाँ, तो बड़े होने पर उन दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव में जमीन-आसमान का अन्तर होगा, यह संगति का ही प्रभाव है।

जो लोग अच्छाई की दिशा में अपनी उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि अपने को अच्छे वातावरण में रखें, अच्छे लोगों को अपना मित्र बनायें और उन्हीं से अपना व्यापार, व्यवहार तथा सम्पर्क रखें। सम्भव हो तो परामर्श, उपदेश और पथप्रदर्शन भी उन्हीं से प्राप्त करें। इस प्रकार की स्थिति में रहने से प्रत्यक्ष और परोक्ष सुप से वैसा ही प्रभाव अपने ऊपर पढ़ता है और उसी दिशा में चलने के लिये प्रेरणा मिलती है। कुसंग में रहने से, बुरे वातावरण के सम्पर्क में आने से मलीनता बढ़ती है। इसलिये उधर से मुँह मोड़े रहना ही उचित है।

यथासाध्य अच्छे व्यक्तियों का सम्पर्क बढ़ाने के अतिरिक्त अच्छी पुस्तकों का स्वाध्याय भी उपयोगी है। सत्संग न हो सके तो पुस्तकें पढ़कर सत्संग का लाभ उठाया जा सकता है। एकान्त में स्वयं भी अच्छे विचारों का चिन्तन और मनन करने तथा अपने मस्तिष्क को उसी दिशा में लगाये रहने से भी आत्म-सत्संग होता है। यह सभी सत्संग आत्मोन्नति के लिये आवश्यक हैं। गायत्री का 'यो' अक्षर सत्संग का महत्व बताता है और उसके लिये प्रयत्नशील रहने का उपदेश करता है।

**द-दर्शनं ह्यात्मनं कृत्वा जानीयादात्म-गौरवम् ।**

**ज्ञात्वा तु तत्तदात्मानं पूर्णोन्नतिपथं नयेत् ॥२२॥**

"आत्मा का दर्शन करके आत्मा के गौरव को पहिचानो। उसको जानकर, तब आत्मा को उन्नति के मार्ग पर ले चलो।"

मनुष्य शरीर नाशवान् और तुच्छ है। उसके हानि-लाभ भी तुच्छ और महत्वहीन हैं, पर उसकी आत्मा ईश्वर का अंश होने के कारण महान् है। उसकी महिमा और महत्ता इतनी बड़ी है कि किसी से भी उसकी तुलना नहीं हो सकती। मनुष्य का गौरव उसके शरीर के कारण नहीं, वरन् आत्मा की विशेषताओं के कारण है जिसकी आत्मा जितनी अधिक बलवान् होती है, वह उतना ही बड़ा महापुरुष कहा जाता है।

जिन कायों से हमारी प्रतिष्ठा, साख, सम्मान, आदर, श्रद्धा बढ़ती है, वे ही आत्म-गौरव को बढ़ाने वाले हैं। प्रतिष्ठा सबसे बड़ी सम्पत्ति है, फिर आत्मा की प्रतिष्ठा का मूल्यांकन तो हो ही नहीं सकता। इतनी

बड़ी अमानत को हमें सब प्रकार सुरक्षित रखना चाहिये । लोग सम्पत्ति द्वारा बनी हुई प्रतिष्ठा को गिरते या नष्ट होते देखकर तिलमिला जाते हैं और उस दुश्ख से इतने दुश्खी हो जाते हैं कि कोई-कोई तो आत्महत्या भी कर डालते हैं । फिर आत्म-प्रतिष्ठा, आत्म-गौरव तथा आत्म-सम्मान तो और भी ऊँची चीज हैं, उन्हें तो किसी भी मूल्य पर न गिरने देना चाहिये ।

जिससे आत्म-गौरव घटता हो, आत्म-ग्लानि होती हो और आत्म-हनन करना पड़ता हो, ऐसे धन, सुख, शोग, पद को लेने की अपेक्षा भूखा और दीन रहना कहीं अच्छा है । गायत्री का 'द' अहर आत्म-सम्मान की रक्षा और आत्म-हनन की निवृत्ति के लिये हमें बड़े से बड़ा त्याग करने में भी न झिझकने के लिये तैयार रहने को कहता है ।

**या—यायात्स्वोत्तरदायित्वं निर्वहन् जीवने पिता ।**

**कुपितापि तथा पापः कुपुत्रोऽपि यथा मतः ॥२३॥**

"पिता अपने उत्तरदायित्व को निबाहता हुआ जीवन में चले, क्योंकि कुपिता भी उसी प्रकार पापी होता है, जैसे कुपुत्र होता है ।"

जिनके हाथ प्रबन्ध, व्यवस्था शासन, स्वामित्व, बल होते हैं, वे प्रायः उसका यथोचित उपयोग नहीं करते । ढील, शिथिलता, लापरवाही भी वैसी ही बुराई है, जैसी कि स्वार्थपरता एवं अनुचित लाभ उठाने की नीति । इसका परिणाम बुरा ही होता है । अक्सर पुत्र, शिष्य, स्त्री, प्रजाजन, सेवक आदि के बिंदु जाने, बुरे होने, अवज्ञा करने, अनुशासनहीन होने के उदाहरण बहुत सुने जाते हैं । इन बुराइयों का बहुत कुछ उत्तरदायित्व पिता, गुरु, पति, शासक, स्वामी आदि पर भी है, क्योंकि प्रबन्ध शक्ति उनके हाथ में होती है । बुद्धिमत्ता और अनुभव अधिक होने के कारण उत्तरदायित्व उन्हीं का अधिक होता है । व्यवस्था में शिथिलता ढालने, बुरे मार्ग पर चलने का अवसर देने, नियंत्रण में सावधानी न रखने से भी ऐसी घटनायें प्रायः घटित होती हैं ।

प्रत्येक सम्बन्ध में दो पक्ष होते हैं । दोनों पक्षों को यथोचित कर्तव्य पालन करने से ही वे सम्बन्ध स्थिर और सुदृढ़ रहते हैं, तो भी समझदार पक्ष का उत्तरदायित्व विशेष है । उसे अपने पक्ष पर अधिक मजबूती से खड़ा रहना चाहिये और छोटे पक्ष के साथ उदार बर्ताव करना चाहिये । लोग अपने-अपने अधिकार पर अधिक बल देते हैं और अपने कर्तव्य से जी चुराते हैं, यही कलह का कारण है । यदि दोनों ओर से अपने-अपने अधिकारों की अपेक्षा न की जाय तो संघर्ष का गायत्री के पंच-रत्न )

अवसर ही न आवे और संबन्ध बड़ी मधुरता से निभते चले जायें ।

“या” अक्षर पिता-पुत्र में, बड़े-छोटे में, अच्छे सम्बन्ध रखने का नुस्खा यह बताता है कि दोनों और से अधिकार की मौँग मन्द रखी जाय और कर्तव्यों का दृढ़ता से पालन हो । बड़ा पक्ष छोटे पक्ष को सैंभालने के लिये अधिक सावधानी और उदारता बरते ।

त-तथाचरेत्सदान्येभ्यो वाञ्छन्त्यन्येर्था नरः ।

नमः शिष्टः कृतज्ञश्च सत्यसाहस्र्यवान् भवेत् ॥२४॥

“मनुष्य दूसरे के साथ उस प्रकार का आचरण करे, जैसा वह दूसरे के द्वारा चाहता है और उसे नमः, शिष्ट, कृतज्ञ और सचाई के साथ सहयोग की भावना वाला होना चाहिये ।”

दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, उसकी कसीटी यह है कि “हम दूसरों से जैसा व्यवहार अपने लिये चाहते हैं, वैसा ही आचरण स्वयं भी दूसरों के साथ करें ।” दुनियों कुएं की आवाज की तरह है । कुएं में मुँह करके जैसी वाणी हम बोलेंगे, बदले में वैसी ही प्रतिबन्धिनी दूसरी ओर से आवेगी ।

हर एक मनुष्य चाहता है कि दूसरे आदपी उससे नम बोलें, सभ्य व्यवहार करें, उसकी कोई चीज न चुरावें, विपत्ति पड़ने पर सहायता करें, ईमानदारी बरतें, कोई भ्रूल हो जाय तो उसे सहन कर लें, मार्ग में कोई रोड़ा न अटकावें, उसकी बहिन-बेटियों पर कुटूष्टि न ढालें तथा समय-समय पर उदारता एवं सहयोग की भावना का परिचय दें । जब हम दूसरों से ऐसा व्यवहार चाहते हैं तो हमारे लिये भी यह उचित है कि वैसा ही व्यवहार दूसरों से करें । कारण यह है कि सदा ही क्रिया से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है । यदि हम बुराई करेंगे तो दूसरों के मन पर उसकी छाप पड़ेगी, प्रतिक्रिया होगी और उसमें से वैसे ही विचार तथा व्यवहार उत्पन्न होंगे । यदि यह बुरी श्रृंखला चल पड़ी तो अपने लिये तथा अन्यों के लिये इसका बुरा प्रतिफल होगा, अगर यह श्रृंखला अच्छी तरह चली तो उससे पारस्परिक सहयोग, प्रेम, सद्भावों की प्रतिक्रिया होगी, जो अपने लिये ही नहीं, अन्यों के लिये भी हितकर होती है । यदि लोग अपने विचार और कार्यों में वैसे ही तत्व भर लें, जैसे कि दूसरों में होने की आशा करते हैं तो संसार में सुख-शान्ति की स्थापना हो सकती है ।

गायत्री का अन्तिम अक्षर “त्” शास्त्रकारों की “आत्मनः

प्रतिकूलानि परेषां न समाधरेत्” उक्ति का उद्घोष करता है। इसे क्रियात्मक रूप में लाना, गायत्री शिक्षा की ओर एक महत्वपूर्ण कदम बढ़ाना है।

## गायत्री संहिता

आदि शक्तिरिति विष्णोस्तामहं प्रणमामि हि ।

सर्गः स्थितिविनाशश्च जायन्ते जगतोऽनया ॥१॥

यह गायत्री ही परमात्मा की आदि शक्ति है, उसको मैं प्रणाम करता हूँ, इसी शक्ति से संसार का निर्माण, पालन और विनाश होता है।

नाभिमि पश्च भुवा विष्णोब्रह्मणा निर्मितं जगत् ।

स्थावरं जंगमं शक्त्या गायत्र्या एतद् वै ध्रुवम् ॥२॥

विष्णु की नाभि-कमल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा ने गायत्री की शक्ति से जड़ तथा चेतन संसार भी बनाया।

चन्दशेखर केशेभ्यो निर्गता हि सुरापणा ।

भागीरथं ततारैव परिवारसमं यथा ॥३॥

जगद्धधात्री समुद्भूत्य या हन्मानसरोवरे ।

गायत्री सकुलं पारं तथा नयति साधकम् ॥४॥

सास्ति गौव ज्ञानाख्यसुनीरेण समाकुला ।

ज्ञान गंगां तु तां भक्त्या बारं-बारं नमाम्यहम् ॥५॥

जिस प्रकार शिव के केशों से निकलने वाली गंगा ने परिवार सहित भागीरथ को पार कर दिया, उसी प्रकार संसार का पालन करने वाली गायत्री, हृदयस्ती मानसरोवर से प्रकट होकर सपरिवार साधक को भवसागर से पार ले जाती है। वही गायत्री ज्ञानस्ती जल से परिपूर्ण गंगा है। उस गंगा को मैं भक्ति से बार-बार नमस्कार करता हूँ।

ऋषयो वेद शास्त्राणि सर्वे चैव महर्षयः ।

श्रद्धया हृदि गायत्रीं धारयन्ति स्तुवन्ति च ॥६॥

ऋषि लोग, वेद, शास्त्र और समस्त महर्षि गायत्री को श्रद्धा से हृदय में धारण करते और उसकी सुन्ति करते हैं।

हीं श्रीं क्लीं चेति रूपेभ्यस्त्रिभ्यो हि लोकपालिनी ।

भासते सततं लोके गायत्री त्रिगुणात्मिका ॥७॥

हीं, श्रीं, कलीं इन तीनों रूपों में संसार का पालन करने वाली त्रिजुणात्मक-गायत्री संसार में निरन्तर प्रकाशित होती है ।

गायत्र्येव मता माता वेदानां शास्त्रसम्पदाम् ।

चत्वारोऽपि समुत्पन्ना वेदास्तस्या असंशयम् ॥८॥

शास्त्रों की सम्पत्ति रूप वेदों की माता गायत्री ही मानी जाती है ।

निश्चय से चारों ही वेद इस गायत्री से उत्पन्न हुए हैं ।

परमात्मनस्तु या लोके ब्रह्मशक्तिर्विराजते ।

सूक्ष्मा च सात्त्विकी चैव गायत्रीत्यभिधीयते ॥९॥

संसार में परमात्मा की जो सूक्ष्म और सात्त्विक ब्रह्मशक्ति विद्यमान है, वह ही गायत्री कही जाती है ।

प्रभावादेव गायत्र्या भूतानामभिजायते ।

अन्तःकरणेषु देवानां तत्वानां हि समुद्भवः ॥१०॥

प्राणियों के अन्तकरणों में दैवी तत्वों का प्रादुर्भाव गायत्री के प्रभाव से ही होता है ।

गायत्र्युपासकरणादात्मशक्तिर्विवर्धते ।

प्राप्यते क्रमशोऽजस्य सामीप्यं परमात्मनः ॥११॥

गायत्री की उपासना करने से आत्मबल बढ़ता है । धीरे-धीरे जन्म बन्धन रहित परमात्मा की समीपता प्राप्त होती है ।

शौचं शान्तिर्विवेकशौतल्लाभं त्रयमात्मकम् ।

पश्चादवाप्यते नूनं सुस्थिरं तदुपासकम् ॥१२॥

मन को वश में रखने वाली उस गायत्री के उपासक को पश्चात्, पवित्रता, शान्ति और विवेक-ये तीन आत्मिक लाभ निश्चय ही प्राप्त होते हैं ।

कार्येषु साहसः स्थैर्यं कर्मनिष्ठा तथैव च ।

एते लाभश्च वै तस्माज्जायन्ते मानसास्त्रयः ॥१३॥

कार्यों में साहस, स्थिरता और वैसे ही कर्तव्यनिष्ठा ये तीन मन सम्बन्धी लाभ उसको प्राप्त होते हैं ।

पुष्कला धन-संसिद्धिः सहयोगश्च सर्वतः ।

स्वास्थ्यं वा त्रय एते स्युस्तस्माल्लाभाश्च लौकिकाः ॥१४॥

संतोषजनक धन की वृद्धि, सब ओर से सहयोग और स्वस्थता ये तीन सांसारिक लाभ उससे होते हैं ।

**कठिन्यं विविधं घोरं ह्यापदां संहतिस्तथा ।  
शीघ्रं विनाशतां याति विविधा विघ्नराशयः ॥१५॥**

नाना प्रकार की घोर कठिनाई और विपत्तियों का समूह, नाना प्रकार के विष्णों के समूह इससे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ।

**विनाशादुक्त शत्रुणामन्तः शक्तिर्विवर्धते ।**

**संकटयनामनायासं पारं याति तथा नरः ॥१६॥**

उपर्युक्त शत्रुओं के विनाश से आन्तरिक शक्ति बढ़ती है । आन्तरिक शक्ति से मनुष्य सहज ही संकटों से पार हो जाता है ।

**गायत्र्युपासकस्वान्ते सत्कामा उद्भवन्ति हि ।**

**तत्पूर्तयेऽभिजायन्ते सहजं साधनान्यपि ॥१७॥**

निश्चय ही गायत्री के उपासक के हृदय में सदिच्छायें पैदा होती हैं । उनकी पूर्ति लिये सहज में साधन भी मिल जाते हैं ।

**त्रुट्यः सर्वथा दोषा विघ्ना यान्ति यदान्तताम् ।**

**मानवो निर्भय याति पूर्णान्तिपथं तथा ॥१८॥**

जब सर्व प्रकार के दोष, भूलें और विघ्न विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, तब मनुष्य निर्भय होकर पूर्ण उन्नति के मार्ग पर चलता है ।

**बाह्यं चाभ्यन्तरं त्वस्य नित्यं सन्मार्गगमिनः ।**

**उन्नतेरुभयं द्वारं यात्युन्मुक्तकपाटताम् ॥१९॥**

सर्वदा सन्मार्ग पर चलने वाले इस व्यक्ति के बाह्य और भीतरी दोनों उन्नति के द्वार खुल जाते हैं ।

**अतः स्वस्थेन चित्तेन श्रद्धया निष्ठया तथा ।**

**कर्त्तव्याविरतं काले गायत्र्याः समुपासना ॥२०॥**

इसलिये श्रद्धा से, निष्ठा से तथा स्वस्थ चित्त से प्रतिदिन निरन्तर ठीक समय पर गायत्री की उपासना करनी चाहिये ।

**दयालुः शक्तिसम्पन्ना माता बुद्धिमती यथा ।**

**कल्याणं कुरुते होव प्रेम्णा बालस्य चात्मनः ॥२१॥**

**तथैव माता लोकानां गायत्री भक्तवत्सला ।**

**विदधाति हितं नित्यं भक्तानां ध्रुवमात्मनः ॥२२॥**

जैसे दयालु शक्तिशालिनी और बुद्धियुक्त माता प्रेम से अपने बालक का कल्याण ही करती है, उसी प्रकार भक्तों पर प्यार करने वाली गायत्री

संसार की माता है, वह अपने भक्तों का सर्वदा कल्याण ही करती है ।

कुर्वन्नाति त्रुटीलोके बालको मातरं प्रति ।

यथा भवति कर्मिच्यन्न तस्या अप्रीतिभाजनः ॥२३॥

कुर्वन्नपि त्रुटीर्भक्तः क्वचित् गायत्र्युपासने ।

न तथा फलमाप्नोति विपरीतं कदाचन ॥२४॥

जिस प्रकार संसार में माता के प्रति भूलें करता हुआ भी कोई बालक उस माता का शत्रु नहीं होता, उसी प्रकार गायत्री की उपासना करने में भूल करने पर कोई भक्त कभी भी विपरीत फल को नहीं प्राप्त होता ।

अक्षराणं तु गायत्र्या गुण्ठनं ह्यस्ति तद्विद्यम् ।

भवन्ति जाग्रता येन सर्वा गुह्यास्तु ग्रन्थयः ॥२५॥

गायत्री के अक्षरों का गुण्ठन इस प्रकार हुआ है कि जिससे समस्त गृह ग्रन्थियाँ जागृत हो जाती हैं ।

जागृता ग्रन्थयस्त्वेताः सूक्ष्माः साधकमानसे ।

दिव्यशक्तिसमुद्भूतिं क्षिप्रं कुर्वन्त्यसंशयम् ॥२६॥

जागृत हुई ये सूक्ष्म यौगिक ग्रन्थियाँ साधक के मन में निःसदैह शीघ्र ही दिव्य शक्तियों को पैदा कर देती हैं ।

जनयन्ति कृते पुंसामेता वै दिव्यशक्तयः ।

विविधान् वै परिणामान् भव्यान् मंगलपूरितान् ॥२७॥

ये दिव्य शक्तियाँ मनुष्यों के लिये नाना प्रकार के मंगलमय सुन्दर परिणामों को उत्पन्न करती हैं ।

मन्त्रस्योच्चारणं कार्यं शुद्धमेवाप्रमादतः ।

तदशक्तो जपेन्नित्यं सप्रणवास्तु व्याहतीः ॥२८॥

आलस्य रहित होकर गायत्री मन्त्र का शुद्ध ही उच्चारण करना चाहिये । जो ऐसा करने में असर्थ हो वह केवल प्रणव ( ॐ ) सहित व्याहृतियों का जाप करे ।

ओमिति प्रणवः पूर्वं भूर्भुवः स्वस्तदुत्तरम्

एषोक्ता लघु गायत्री विद्विभर्वेदपण्डितैः ॥२९॥

पहिले प्रणव ( ॐ ) का उच्चारण करना चाहिये, तत्पश्चात् भूर्भुवः स्वः का यह पञ्चाष्टरी मन्त्र ( ॐ भूर्भुवः स्वः ) वेदज्ञ विदानों ने लघु गायत्री कहा है ।

शुद्धं परिधानमाधाय शुद्धे वै वायुमण्डले ।

शुद्ध देहमनोभ्यां वै कार्या गायत्र्युपासना ॥३०॥

शुद्ध वस्त्रों को धारण करके शुद्ध वायुमण्डल में देह एवं मन को शुद्ध करके गायत्री की उपासना करनी चाहिये ।

दीक्षामादाय गायत्र्या ब्रह्मनिष्ठाग्रजन्मनः ।

आरभ्यतां ततः सम्पर्विधिनोपासना सता ॥३१॥

किसी ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण से गायत्री की दीक्षा लेकर तब विधिपूर्वक उपासना आरम्भ करनी चाहिए ।

गायत्र्युपासनामुक्त्वा नित्यावश्यककर्मसु ।

उक्तस्तत्र द्विजातीनां नानाध्यायो विचक्षणैः ॥३२॥

गायत्री उपासना को विद्वानों ने द्विजों के लिये अनिवार्य किसी भी दिन न छोड़ने योग्य, नित्य कर्म बताया है ।

आराधयन्ति गायत्रीं न नित्यं ये द्विजन्मनः ।

जायते हि स्वकर्मभ्यस्ते च्युता नात्र संशयः ॥३३॥

जो द्विज गायत्री की नित्य प्रति उपासना नहीं करते वे अपने कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ।

शूद्रास्तु जन्मना सर्वे पश्चाद्यांति द्विजन्मताम् ।

गायत्र्यैव जनाः सर्वे ह्युपवीतस्य धारणात् ॥३४॥

जन्म से तो सभी शूद्र होते हैं, तत्पश्चात् मनुष्य गायत्री के सहित यज्ञोपवीत धारण करने से द्विजत्व को प्राप्त होता है ।

उच्चता पतितानां च पापिनां पापनाशनम् ।

जायते कृपयैवास्याः वेदमातुरनन्तया ॥३५॥

पतितों को उच्चता और पापियों को उनके पापों का विनाश ये दोनों कार्य इस वेदों की माता गायत्री की अनन्त कृपा से ही होते हैं ।

गायत्र्या या सुता संध्या ब्रह्मसंध्या तु सा मता ।

सर्वत्र कीर्तिं श्रेष्ठं तस्यानुष्ठानमागमैः ॥३६॥

जो सन्ध्या गायत्री से युक्त होती है वह ब्रह्म सन्ध्या कहलाती है । शास्त्रों ने उसका उपयोग सबसे श्रेष्ठ बताया है ।

आचमनं शिखाबंधः प्राणायामोऽघर्मर्षणम् ।

न्यासञ्चोपासनायां तु पंचकोषा मता बुधैः ॥३७॥

आचमन, चोटी बौद्धना, प्राणायाम, अधर्मर्षण और न्यास, ये पाँच कोष विद्वानों ने गायत्री सन्ध्या को उपासना में स्वीकार किये हैं ।

ध्यानतस्तु ततः पश्चात् सावधानेन चेतसा ।

जप्या सततं तुलसी मालया च मुहर्मुहः ॥३८॥

सावधान चित्त से ध्यानपूर्वक गायत्री मन्त्र को सात्त्विक प्रयोजन के लिये तुलसी की माला पर जपना चाहिये ।

एक बारं प्रतिदिनं न्यूनतो न्यूनसङ्ख्यकम् ।

धीमन्मन्त्र शतं नूनं नित्यमष्टोत्तरं जपेत् ॥३९॥

प्रतिदिन कम से कम एक माला ( १०८ मन्त्रों ) का जप अवश्य ही करना चाहिये ।

ब्राह्मे मुहूर्ते प्राङ्मुखो मेरु दण्डं प्रयम्य हि ।

पश्चासनसमासीनः सन्ध्यावदनमाचरेत् ॥४०॥

ब्रह्म मुहूर्त में पूर्वाभिमुख होकर मेरु दण्ड को सीधा कर पद्मासन पर बैठकर सन्ध्यावन्दन करे ।

दैन्यरुक्ष शोक चिंतानां विरोधाक्रमणापदाम् ।

कार्यं गायत्र्यनुष्ठानं भयानां वारणाय च ॥४१॥

दीनता, रोग, शोक, विरोध, आक्रमण, आपत्तियाँ और भय इनके निवारण के लिये गायत्री का अनुष्ठान करना चाहिये ।

जायते स स्थितिरस्मान्मनोऽभिलाषयान्विताः ।

यतः सर्वेऽभिजायन्ते यथा कालं हि पूर्णताम् ॥४२॥

इस अनुष्ठान से वह स्थिति पैदा होती है जिससे समस्त मनोवाञ्छित अभिलाषायें यथासमय पूर्णता को प्राप्त होती हैं ।

अनुष्ठानात् वै तस्माद् गुप्ताध्यात्मिक शक्तयः ।

चमत्कारमया लोके प्राप्यन्तेऽनेकधा बुधैः ॥४३॥

इस अनुष्ठान से साधकों को संसार में चमत्कार से पूर्ण अनेक प्रकार की गुप्त आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं ।

सपादलक्ष मंत्राणां गायत्र्या जपनं तु वै ।

ध्यानेन विधिना चैव ह्यनुष्ठानं प्रचक्षते ॥४४॥

विधि एवं ध्यानपूर्वक गायत्री के सवा लाख मन्त्रों का जप करना ही अनुष्ठान कहलाता है ।

पञ्चम्यां पूर्णिमायां वा चैकादश्यां तथैव हि ।

अनुष्ठानस्य कर्त्तव्य आरम्भः फल प्राप्तये ॥४५॥

पञ्चमी, पूर्णिमासी और एकादशी के दिन अनुष्ठान का आरम्भ करना शुभ होता है ।

मासद्वयेऽविरामं तु चत्वारिंशाद् दिनेषु वा ।

पूर्येत्तदनुष्ठानं तुल्यसंख्यासु वै जपन् ॥४६॥

दो महीने में अथवा चालीस दिनों में बिना नागा किये तथा नित्य समान संख्याओं में जप करता हुआ उस अनुष्ठान को पूर्ण करे ।

तस्याः प्रतिमां सु संस्थाप्य प्रेष्णा शोभन आसने ।

गायत्र्यास्तत्र कर्त्तव्या सत्प्रतिष्ठा विधानतः ॥४७॥

प्रेम से सुन्दर और ऊँचे आसन पर गायत्री की प्रतिमा स्थापित करके उसकी भली प्रकार प्रतिष्ठा करनी चाहिये ।

तद्विधाय ततो दीप धूप नैवेद्य चन्दनैः ।

नमस्कृत्याक्षतेनापि तस्याः पूजनमाचरेत् ॥४८॥

इस प्रकार से गायत्री की स्थापना करके, तदनन्तर उसे नमस्कार करके, दीपक, धूप, नैवेद्य और चन्दन तथा अक्षत इन सबसे पूजन करे ।

पूजनानन्तरं विज्ञः भक्त्या तज्जपमारभेत् ।

जपकाले तु मनः कार्यं श्रद्धांन्वितमचञ्चलम् ॥४९॥

बुद्धिमानों को चाहिये कि वह पूजा के अनन्तर भक्ति से गायत्री का जप आरम्भ करें । जप के समय मन को श्रद्धा से युक्त और स्थिर कर लेना चाहिये ।

कार्यतो यदि चोत्तिष्ठेन्मध्य एव ततः पुनः ।

कर-प्रक्षालनं कृत्वा शुद्धैरगैरुपाविशेत् ॥५०॥

और यदि किसी काम से साधना समय के बीच में ही उठना पड़े तो फिर पानी से हाथ मुँह धोकर बैठे ।

आधशक्तिर्वेदमाता गायत्री तु मदन्तरे ।

शक्तिकल्लोलसंदोहन् ज्ञानज्योतिश्च संततम् ॥५१॥

उत्तरोत्तरमाकीर्यं प्रेरयन्ती विराजते ।

इत्येवाविरतं ध्यायन् ध्यानमग्नस्तु तां जपेत् ॥५२॥

आधशक्ति, वेदों की माता स्वरूप गायत्री मेरे भीतर लगातार शक्ति की गायत्री के पंच-रत्न ( )

लहरों के समूहों को और ज्ञान के प्रकाशों को उत्तरोत्तर फैलाकर प्रेरित करती हुई विद्यमान है, इस प्रकार से निरन्तर ध्यान करता हुआ निमन होकर उसका जाप करे ।

चतुर्विंशतिलक्षणाणां सततं तदुपासकः ।

गायत्रीणामनुष्ठानाद् गायत्र्याः सिद्धिमाप्नुते ॥५३॥

गायत्री का उपासक निरन्तर चौबीस लाख गायत्री के मन्त्र जप का अनुष्ठान करने से गायत्री की सिद्धि को प्राप्त करता है ।

साधनायै तु गायत्र्या निश्छलेन हि चेतसा ।

वरणीयः सदाचार्यः साधकेन सुभाजनः ॥५४॥

गायत्री की साधना के लिये साधक को चाहिये कि वह श्रद्धा भक्ति के साथ योग्य श्रेष्ठ आचार्य को गुरु वरण करे और गायत्री की दीक्षा लेकर साधना आरम्भ करे ।

लघ्वानुष्ठानतो वापि महनुष्ठानतोऽथवा ।

सिद्धिं विन्दति वै नूनं साधकः सानुपातकाम् ॥५५॥

लघु अनुष्ठान करने से अथवा बहुत अनुष्ठान करने से साधक साधना में किये अथ के अनुपात के अनुसार सिद्धि को प्राप्त करता है ।

एक एव तु ससिद्धिः गायत्री मन्त्र आदिशत् ।

समस्तलोक भन्त्राणां कार्यं सिद्धेस्तु पूरकः ॥५६॥

सिद्ध हुआ अकेला ही गायत्री मन्त्र संसार के समस्त मन्त्रों द्वारा हो सकने वाले कार्यों को सिद्ध करने वाला माना गया है ।

अनुष्ठानावसाने तु अग्निहोत्रो विधीयताम् ।

यथाशक्ति ततो दानं ब्रह्मभोजस्ततः खलु ॥५७॥

अनुष्ठान के अनन्तर हवन करना चाहिये, तदनन्तर शक्ति के अनुसार दान और ब्रह्मभोज कराना चाहिये ।

महमन्त्रस्य चाप्यस्य स्थाने स्थाने पदे पदे ।

गूढानन्तोपदेशानां रहस्यं तत्र वर्तते ॥५८॥

इस महामन्त्र के अक्षर-अक्षर और पद-पद में रहस्य भरा हुआ है और अनन्त उपदेशों का सम्हृ इस महामन्त्र में छिपा हुआ अन्तर्हित है ।

यो दधाति नरश्चैतानुपदेशास्तु मानसे ।

जायते ह्यभयं तस्य लोकमानन्दसंकुलम् ॥५९॥

जो मनुष्य इन उपदेशों को मन में धारण करता है उसके दोनों  
लोक आनन्द से व्याप्त हो जाते हैं ।

समग्रामपि सामग्रीमनुष्ठानस्य पूजिताम् ।

स्थाने पवित्र एवैतां कुत्रचिद्धि विसर्जयेत् ॥६०॥

अनुष्ठान की समस्त पूजित सामग्री को कहीं पवित्र स्थान पर ही  
विसर्जित करना उचित है ।

सत्पात्रो यदि वाचार्यो न चेत्सं प्राप्यते सदा ।

नारिकेलं तु संवृत्वाचार्यं भावेन चासने ॥६१॥

आगर श्रेष्ठ एवं योग्य आचार्य न प्राप्त हो तो पवित्र नारियल को  
आचार्य भाव से वरण करके आसन पर स्थापित करे ।

प्रायश्चित्तं मतं श्रेष्ठं त्रुटीनां पापकर्मणाम् ।

तपश्चर्यैव गायत्र्याः नातोऽन्यद् दृश्यते क्वचित् ॥६२॥

विभिन्न प्रकार की शूलों एवं पाप-कर्मों के प्रायश्चित्त के लिये  
गायत्री की तपश्चर्या सबसे श्रेष्ठ मानी गई है ।

सेव्यः स्वात्मसमद्वयर्थं पदार्थः सात्विकाः सदा ।

राजसाश्च ग्रयोक्तव्याः मनोवांछित पूर्तये ॥६३॥

आत्मा की उन्नति के लिये सतोगुणी पदार्थों का उपयोग करना चाहिये और  
मनोभिलाषाओं की पूर्ति के लिये रजोगुणी पदार्थ का उपयोग करना चाहिये ।

प्रादुर्भावस्तु भावानां तामसानां विजायते ।

तमोगुणानामर्थानां सेवनादिति निश्चयः ॥६४॥

तमोगुणी पदार्थों के उपयोग करने से तमोगुणी भावों की उत्पत्ति  
होना निश्चय है ।

मालासन समिध्यज्ञं सामश्यर्चनसंग्रहः ।

गुणत्रयानुसारं हि सर्वे वै प्रदत्ते फलम् ॥६५॥

माला, आसन, हवन, सामग्री, पूजा के पदार्थ जिस तत्व की प्रधानता  
वाले लिये जायेंगे वे वैसे ही अपने गुणों के अनुसार फल को देते हैं ।

प्रादुर्भवन्ति वै सूक्ष्माश्चतुर्विंशति शक्तयः ।

अक्षरेभ्यस्तु गायत्र्या मानवानां हि मानसे ॥६६॥

मनुष्य के अन्तःकरण में गायत्री के चौबीस अक्षरों से चौबीस सूक्ष्म  
शक्तियों प्रकट होती हैं ।

मुहूर्ता योग-दोषा वा येऽप्यमंगलकारिणः ।

भस्मतां यान्ति ते सर्वे गायत्र्यास्तीव्रतेजसा ॥६७॥

अमंगल को करने वाले जो मुहूर्त अथवा योग दोष हैं वे सब गायत्री के प्रचण्ड तेज से भस्म हो जाते हैं ।

एतस्मात् जपान्नूनं ध्यानमग्नस्य चेतसा ।

जायते क्रमशश्चैव षट् चक्राणां तु जाग्रतिः ॥६८॥

निश्चय ही ध्यान में रत चित्त के द्वारा इस जप को करने से धीरे-धीरे षट्-चक्र जाग्रत हो जाते हैं ।

षट् चक्राणि यदैतानि जागृतानि भवन्ति हि ।

षट् सिद्धयोऽभिजायन्ते चक्रैरेत्नरस्य वै ॥६९॥

जब ये षट्-चक्र जागृत हो जाते हैं तब मनुष्य को इन चक्रों के द्वारा छः सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

अग्निहोत्रं तु गायत्री मन्त्रेण विधिवत् कृतम् ।

सर्वेष्ववसरेष्वैव शुभमेव मतं बुधैः ॥७०॥

गायत्री मन्त्र से विधिपूर्वक किया गया अग्निहोत्र सभी अवसरों पर विद्वानों ने शुभ माना है ।

यदावस्थासु स्याल्लोके विपन्नासु तदा तु सः ।

मौनं मानसिकं चैव गायत्री-जपमाचरेत् ॥७१॥

जब कोई मनुष्य विपन्न ( सूतक, रोग, अशौच आदि ) अवस्थाओं में हो तब तक मौन मानसिक गायत्री जप करे ।

तदनुष्ठान-काले तु स्वशक्तिं नियमेज्जनः ।

निम्नकर्मसु ताः धीमान् न व्ययेद्धि कदाचन ॥७२॥

मनुष्य को चाहिये कि वह गायत्री साधना से प्राप्त हुई अपनी शक्ति को संचित रखे । बुद्धिमान् मनुष्य कभी भी उन शक्तियों को छोटे कार्यों में खर्च नहीं करते ।

नैवानावश्यकं कार्यमात्मोद्वार-स्थितेन च ।

आत्मशक्तेस्तु प्राप्तायाः यत्र-तत्र प्रदर्शनम् ॥७३॥

आत्मोद्वार के अभिलाषी मनुष्य को प्राप्त हुई अपनी शक्ति का जहाँ-तहाँ अनावश्यक प्रदर्शन नहीं करना चाहिये ।

आहारे व्यवहारे च मस्तिष्केऽपि तथैव हि ।

सात्त्विकेन सदा भाव्यं साधकेन मनीषिणा ॥७४॥

आहार में, व्यवहार में और उसी प्रकार मस्तिष्क में भी बुद्धिमान् साधक को सात्त्विक होना चाहिये ।

कर्त्तव्यधर्मतः कर्म विपरीतं तु यद् भवेत् ।

तत्साधकस्तु मतिमानाचरेन्न कदाचन ॥७५॥

जो काम कर्त्तव्य कर्म से विपरीत हो वह कर्म बुद्धिमान् साधक कभी नहीं करे ।

पृष्ठतोऽस्याः साधनाया राजतेऽतितरां सदा ।

मनस्त्विसाधकानां हि बहूनां साधनाबलम् ॥७६॥

इस साधना के पीछे आदि काल से लेकर अब तक के असंख्य मनस्वी साधकों का साधन बल शोभित है ।

अल्पीयस्या जगत्येव साधनया तु साधकः ।

भगवत्प्राप्त्यगायत्र्याः कृपां प्राप्नोत्यसंशयम् ॥७७॥

योद्धी ही श्रम साधना से जगत् में ही साधक भगवती गायत्री माता की कृपा को प्राप्त कर लेता है ।

प्राणायामे जपन् लोकः गायत्रीं ध्रुवमाप्नुते ।

निग्रहं मनसश्चैव चेन्द्रियाणां हि सम्पदाम् ॥७८॥

मनुष्य निश्चय से प्राणायाम में गायत्री को जपता हुआ मन का निग्रह और इन्द्रियों की सम्पत्ति को प्राप्त करता है ।

मन्त्रं विभज्य भागेषु चतुर्षु सुबुधस्तदा ।

रेचकं कुम्भकं बाह्यं पूरकं कुम्भकं चरेत् ॥७९॥

बुद्धिमान् व्यक्ति मन्त्र को चारों भागों में भी विभक्त करके तब रेचक, कुम्भक, पूरक और बाह्य कुम्भक को करे ।

यथा पूर्वस्थितिज्ञैव न द्रव्यं कार्य-साधकम् ।

महसाधनतोऽप्यस्मान्नाज्ञो लाभं तथाप्नुते ॥८०॥

जिस प्रकार धन पास में रखे रहने से ही कार्य सिद्ध नहीं हो जाता, उसी प्रकार से मूर्ख मनुष्य इस महासाधन से लाभ प्राप्त नहीं कर सकता ।

साधकः कुरुते यस्तु मन्त्रशक्तिरपव्ययः ।

तं विनाशयति सैव समूलं नात्र संशयः ॥८१॥

जो साधक मन्त्र-शक्ति का दुरुपयोग करता है उसको वह शक्ति ही समूल नष्ट कर देती है ।

सततं साधनाभिर्यो याति साधकतां नरः ।

स्वप्नावस्थासु जायन्ते तस्य दिव्यानुभूतयः ॥८२॥

जो मनुष्य निरन्तर साधना करने से साधकत्व को प्राप्त हो जाता है उस व्यक्ति को स्वप्नावस्था में दिव्य अनुभव होते हैं ।

सफलः साधको लोके प्राप्नुतेऽनुभवान् नवान् ।

विचित्रान् विविधांश्चैव साधनासिद्धयनन्तरम् ॥८३॥

संसार में सफल साधक नवीन और विचित्र प्रकार के विविध अनुभवों को साधना की सिद्धि के पश्चात् प्राप्त करता है ।

भिन्नाभिविधिभिर्बुद्ध्या भिन्नासु कार्यपंक्तिषु ।

गायत्र्याः सिद्धमन्त्रस्य प्रयोगः क्रियते बुधैः ॥८४॥

बुद्धिमान् पुरुष भिन्न-भिन्न कार्यों में गायत्री के सिद्ध हुए मन्त्र का प्रयोग भिन्न-भिन्न विधि से विवेकमूर्वक करता है ।

चतुर्विंशतिवर्णीर्या गायत्री गुण्फता श्रतौ ।

रहस्यमुक्तं तत्रापि दिव्यै रहस्यवादिभिः ॥८५॥

वेद में जो गायत्री चौबीस अष्टरों में गूँथी गयी है, विद्वान् लोग इन चौबीस अष्टरों के गूँथने में बड़े-बड़े रहस्यों को छिपा बतलाते हैं ।

रहस्यमपवीतस्य गृह्याद् गुह्यतरं हि यत् ।

अन्तर्हितं तु सत्सर्वं गायत्र्यां विश्वमातरि ॥८६॥

यज्ञोपवीत का जो गुह्य से गुह्य रहस्य है, वह सब विश्व-माता गायत्री में अन्तर्हित है ।

अयमेव गुरोर्मन्त्रः यः सर्वोपरि राजते ।

विन्दौ सिंधुरिवास्मन्तु ज्ञानविज्ञानमाश्रितम् ॥८७॥

यह गायत्री ही गुरु-मन्त्र है, जो सर्वोपरि विराजमान है । एक बिन्दु में सागर के समान इस मन्त्र में समस्त ज्ञान और विज्ञान आश्रित हैं ।

अभ्यन्तरे तु गायत्र्या अनेके योगसञ्चयाः ।

अन्तर्हिता विराजन्ते कश्चिद्दत्र न संशयः ॥८८॥

गायत्री के अन्तर्गत अनेक योग समूह छिपे हुए रहते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।

धारयन् हृदि गायत्रीं साधको धौतकित्विषः ।

शक्तीरनुभवत्युग्राः स्वस्मिन्नेवात्यलौकिकाः ॥८९॥

पाप-रहित साधक हृदय में गायत्री को धारण करता हुआ अपनी आत्मा में अलौकिक तीव्र शक्तियों का अनुभव करता है ।

एतादृश्यस्तस्य वार्ता भासन्ते उल्पप्रयासतः ।

यास्तु साधारणो लोको ज्ञातुमहीति नैव हि ॥९०॥

उसको थोड़े ही प्रयास से ऐसी-ऐसी बातें विदित हो जाती हैं जिन बातों को सामान्य लोग जानने में समर्थ नहीं होते ।

एतादृश्यस्तु जायन्ते तु मनस्यनुभूतयः ।

यादृश्यो न हि दृश्यन्ते मानवेषु कदाचन ॥९१॥

उसके मन में इस प्रकार के अनुभव होते हैं, जैसे अनुभव साधारण मनुष्यों में कभी नहीं देखे जाते ।

प्रसादं ब्रह्मज्ञानस्य येऽन्येभ्यो वितरत्यपि ।

आसादयन्ति ते नूनं मानवाः पुण्यमक्षयम् ॥९२॥

ब्रह्मज्ञान के प्रसाद को जो लोग दूसरों को भी बॉटते हैं, वे मनुष्य निश्चय ही अङ्ग्रय पुण्य को प्राप्त करते हैं ।

गायत्री संहिता होषा परमानन्ददायिनी ।

सर्वेषामेव कष्टानां वारणास्त्यलं भुवि ॥९३॥

यह 'गायत्री-संहिता' परम आनन्द को देने वाली है । समस्त कष्टों के निवारण के लिये पृथ्वी पर यह अकेली ही पर्याप्त है ।

श्रद्धया ये पठन्त्येनां चिंतयन्ति च चेतसा ।

आचरत्यानुकूल्येन भवबाधां तरन्ति ते ॥९४॥

जो लोग इसको श्रद्धा से पढ़ते हैं और ध्यानपूर्वक इसका चिन्तन, मनन करते हैं और अपने विचार एवं कार्यों को इसके अनुकूल बना लेते हैं, वे लोग भव-बाधाओं से तर जाते हैं ।



# गायत्री स्तोत्र

सुकल्पाणीं वाणीं सुरमुनिवरैः पूजितपदाम् ।  
 शिवामाद्यां वन्द्यां त्रिभुवनमयीं वेदजननीम् ॥  
 परां शक्तिं स्मष्टुं विविधविविधरूपां गुणमयीम् ।  
 भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥१॥

मौं गायत्री वाणी का कल्पाण करने वाली है । सुर, मुनि द्वारा इसकी पूजा की जाती है । इसे शिवा कहते हैं । यह आद्या है, त्रिभुवन में वन्दनीय है, वेद-जननी है, पराशक्ति है, गुणमयी है तथा विविध रूप धारण करके प्रादुर्भूत होती है । इस माता गायत्री का जो सौभाग्य और आनन्द का सृजन करती है, हम भजन करते हैं ॥१॥

विशुद्धां सत्त्वस्थामखिल दुरवस्थादिहरणीम् ।  
 निराकारां सारां सुविमलतपोमूर्तिमतुलाम् ॥  
 जगज्ज्येष्ठां श्रेष्ठामसुरसुरपूज्यां श्रुतिनुत्तम् ।  
 भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥२॥

यह दयामती विशुद्ध तत्त्व वाली, सत्त्वमयी तथा समस्त दुःख, दोष एवं दुरवस्था हरने वाली है । यह निराकार है, सारभूत है और अतुल तप की मूर्ति एवं विमल है । यह संसार में सबसे महान् है, ज्येष्ठ है । देवता तथा अमुरों से प्रूजित है । उस सौभाग्य एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं ॥२॥

तपो निष्ठाभीष्टांस्वजनमनसन्तापशमनीम् ।  
 दयामूर्तिं स्फूर्तिं यतीतंति प्रसादैकं सुलभाम् ॥  
 वरेण्यां पुण्यां तां निखिलं भव बन्धापहरणीम् ।  
 भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥३॥

इन महाशक्ति का तपोनिष्ठ रहना ही अभीष्ट है । यह स्वजनों के मानसिक सन्तापों का शमन करने वाली है । यह स्फूर्तिमयी है, दया मूर्ति और उसकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेना अत्यन्त सुलभ है । वह संसार के समस्त बन्धनों को हरण करने वाली है एवं वरण करने योग्य है । उस परम सौभाग्य एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं ॥३॥

सदाराध्यां साध्यां सुमति मति विस्तारकरणीम् ।  
 विशोकामालोकां हृदयगतमोहन्धहरणीम् ॥

परां दिव्यां भव्यामगमभवसिन्धवेकतरणीम् ।  
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥४॥

मातेश्वरी निरन्तर आराधना करने योग्य है और उसकी आराधना करना अत्यन्त साध्य है । वह सुमति का विस्तार करने वाली है । वह प्रकाशमय है, शोकरहित है और हृदय में रहने वाले मोहान्धकार को दूर करने वाली है । वह परा है, दिव्य है, अगम संसार सागर से तरने के लिये नौका समान है, उस परम सौभाग्य और आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं ॥४॥

अजां द्वैतां त्रैतां विविधगुणरूपां सुविमलाम् ।  
तमो हन्त्रीं-तन्त्रीं श्रुति मधुरनादां रसमयीम् ॥  
महामान्यां धन्यां सततकरुणाशीलविभवाम् ।  
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥५॥

वही अजन्मा है, द्वैता है, त्रिगुण एवं सुविमल रूपमयी है । तम को दूर करती है । विश्व की संचालिका है । वाणी सुनने में मधुर एवं रसमयी है । वह महामान्य है, धन्य है और उनका वैभव निरन्तर करुणाशील है । उस परम सौभाग्य एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं ॥५॥

जगद्वात्रीं पात्रीं सकल भव संहरकरणीम् ।  
सुवीरां धीरां तां सुविमल तपो राशि सरणीम् ॥  
अनेकामेकां वै त्रियजगत्सदधिष्ठानपदवीम् ।  
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥६॥

वही संसार की माता है और सकल संसार को संहर करने की भी उसकी शक्ति है । वह वीर है और उसका जीवन पवित्र तपोमय है । वह एक होते हुए भी अनेक है । उसकी पदवी संसार की अधिष्ठात्री की है । उस परम सौभाग्य एवं आनन्द की जननी माता गायत्री का हम भजन करते हैं ॥६॥

प्रबुद्धां बुद्धां तां स्वजनतति जाड्यापहरणीम् ।  
हिरण्यां गुण्यां तां सुकविजन गीतां सुनिपुणीम् ॥  
सुविद्यां निरविद्याममल गुणगाथो भगवतीम् ।  
भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥७॥

मैं गायत्री प्रबुद्ध हूँ, बोधमयी हूँ, स्वजनों की जड़ता को नाश करने वाली हूँ, हिरण्यमयी हूँ, गुणमयी हूँ, जिनकी निषुणता सुकवि जनों द्वारा गाई जाने वाली हूँ । निरवद्य हूँ, उनके गुणों की गाथा अकथनीय हूँ । वे भगवती अम्बा गायत्री उस परम सौभाग्य एवं आनन्द की जननी हैं, मैं उनका भजन करता हूँ ॥७॥

अनन्तां शान्तां यां भजति बुध वृन्दः श्रुतिमयीम् ।

सुगेयां ध्येयां यां स्मरति हृदि नित्यं सुरपतिः ॥

सदा भक्त्या शक्त्या प्रणत मतिभिः प्रीतिवशंगाम् ।

भजेऽम्बां गायत्रीं परमसुभगानन्दजननीम् ॥८॥

वह अनन्त है, शान्त है, इसका भजन करके पण्डित लोग वेदमय हो जाते हैं । इसका गान, ध्यान तथा स्मरण इन्द्र नित्यप्रति हृदय से करता है । सदा अकितपूर्वक, शक्ति के साथ, आत्म-निवेदन पूर्वक, प्रेमयुक्त आनन्द एवं सौभाग्य की जननी माता गायत्री की मैं उपासना करता हूँ ॥८॥

शुद्ध चित्तः पठेद्यस्तु गायत्रा अष्टकं शुभम् ।

अहो भाग्यो भवेल्लोके तस्मिन् माता प्रसीदति ॥९॥

इस शुभ गायत्री अष्टक को जो लोग शुद्ध चित्त होकर पढ़ते हैं, वे इस संसार में भाग्यवान् हो जाते हैं और माता की उन पर पूर्ण कृपा रहती है ॥९॥

